भारतीय आधुनिक शिक्षा राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् की एक त्रैमासिक पत्रिका है। इस पत्रिका का मुख्य उद्देश्य है शिक्षकों, शिक्षक-प्रशिक्षकों, शैक्षिक प्रशासकों तथा शोधकर्ताओं को एक मंच प्रदान करना, शिक्षा के विभिन्न आयामों जैसे शिक्षादर्शन, शिक्षा मनोविज्ञान, शिक्षा की समकालीन समस्याएं, पाठ्यक्रम एवं प्रविधि संबंधी नवीन विकास, अंतरराष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा का स्वरूप, विभिन्न राज्यों में शिक्षा की स्थिति आदि पर मौलिक तथा आलोचनात्मक चिंतन को प्रोत्साहित करना और शिक्षा के सुधार और विकास को बढ़ावा देना।

मूल्य एक प्रति : 8.50 रुपये   वार्षिक : 34.00 रुपये

भारतीय आधुनिक शिक्षा

वर्ष : 18 अंक : 4 अप्रैल 2000

इस अंक में

प्राथमिक शिक्षा की सर्वसुलभता—एक चुनौतीपूर्ण लक्ष्य

❑ उमेश चन्द्र अग्रवाल

प्राथमिक शिक्षा की समुचित व्यवस्था करना सरकार का मौलिक दायित्व निर्धारित किया गया है। परन्तु इसको विस्तृत एवं सर्वव्यापी बनाने की दिशा में धनाभाव मुख्य रूप से बाधक रहा है। इस समस्या का हल राजनैतिक और प्रशासकीय प्रबल इच्छाशक्ति के होने पर संभव है। अतः प्राथमिक शिक्षा की सर्वसुलभता एवं अनिवार्यता को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा, राष्ट्रीय महत्व और सामाजिक क्रान्ति का एक अहम मुद्दा मानते हुए जी-तोड़ प्रयासों से लागू करने पर ही लक्ष्य प्राप्ति संभव है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से ही देश में विशेष रूप से प्राथमिक शिक्षा को देश के सभी बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य रूप से उपलब्ध कराने के लिए प्रयास किए गए हैं। संविधान की धारा 45 में प्राथमिक शिक्षा को निःशुल्क और अनिवार्य रूप से देश के सभी बच्चों को उपलब्ध कराने का प्रावधान भी किया गया। इसके बाद देश की पहली राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1968 में भी सरकार के इसी प्रकार के इरादे को दोहराया गया। दूसरी राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986, संशोधित राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1991 तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति का कार्य योजना, 1992 में भी देश के सभी 14 वर्ष तक के बच्चों को 21वीं शताब्दी में जाने से पूर्व शिक्षित किए जाने हेतु भरसक प्रयत्न करने की बात कही गई। बाद में वर्ष 1993 के 'उन्नीकृष्णन केस' पर अपना ऐतिहासिक फैसला देते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने यह स्वीकार किया कि शिक्षा का अधिकार प्रत्येक भारतीय नागरिक का मूल अधिकार है और इसलिए इसे मूल अधिकारों में सम्मिलित किए जाने हेतु सरकार को निर्देश भी जारी किए गए। इस सम्बन्ध में वर्ष 1997 में 83वां संविधान संशोधन बिल भी राज्यसभा में प्रस्तुत किया गया जिसके द्वारा प्राथमिक शिक्षा को बच्चों का मौलिक अधिकार और इसकी समुचित व्यवस्था करना सरकार का मौलिक दायित्व निर्धारित किया गया है।

सर्वोच्च न्यायालय के फैसले के अनुपालन में 6 से 14 वर्ष आयुवर्ग के सभी बच्चों को कक्षा आठ तक की अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था सुनिश्चित करने हेतु सरकार द्वारा 9वीं पंचवर्षीय योजना में शिक्षा के मद पर गत योजना की तुलना में काफी अधिक धनराशि का निवेश करना निर्धारित किया गया है। निर्धारित समयावधि में प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था सुनिश्चित करने हेतु इसके विभिन्न पहलुओं पर गम्भीरता से विचार कर सभी आवश्यक कदम उठाने और उन्हें साकार रूप प्रदान करने के उद्देश्य से "राष्ट्रीय प्राथमिक शिक्षा मिशन" की स्थापना भी की गई है। केन्द्र तथा प्रदेश सरकारें सभी बच्चों को कम से कम प्राथमिक स्तर तक की शिक्षा की सर्वसुलभता और सर्वव्यापकता के लिए काफी प्रयासशील भी दिखाई दी हैं। विशेष रूप से प्राथमिक शिक्षा के लिए धन की व्यवस्था करने में केन्द्र सरकार की विशेष महत्वपूर्ण भूमिका भी रही है। पिछली तीन पंचवर्षीय योजनाओं में तो प्राथमिक शिक्षा के ऊपर किए जा रहे व्यय में निरन्तर रूप से काफी वृद्धि भी की गई है और ये वृद्धि सम्पूर्ण शिक्षा के क्षेत्र में किए जा रहे व्यय में हुई वृद्धि से भी अधिक रही है। 8वीं पंचवर्षीय योजना में केन्द्रीय योजना का 48 प्रतिशत भाग प्राथमिक शिक्षा के ऊपर खर्च किया गया। 9वीं

पंचवर्षीय योजना में इसे 50 प्रतिशत तक किए जाने के प्रावधान किए गए हैं। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत प्राथमिक शिक्षा के प्रसार और प्रगति हेतु की गई वित्तीय व्यवस्था को तालिका-1 में दर्शाया गया है। तालिका-2 में दिया गया है। कुछ अपवादों को छोड़कर पूरे देश के सन्दर्भ में वर्तमान में कक्षा 1 से 5 तक की प्राथमिक स्तर की शैक्षिक संस्थाओं की सर्वसुलभ सुविधाओं को आंशिक तौर पर प्राप्त भी कर लिया गया है।

तालिका-1
विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में प्राथमिक शिक्षा पर किया गया व्यय

क्र.सं.	योजना	अवधि	प्राथमिक शिक्षा पर व्यय (करोड़ रु. में)
1.	पहली योजना	1951-56	85
2.	दूसरी योजना	1956-61	95
3.	तीसरी योजना	1961-66	201
4.	तीन वार्षिक योजनाएं	1966-69	75
5.	चौथी योजना	1969-74	239
6.	पांचवी योजना	1974-79	317
7.	छठी योजना	1980-85	836
8.	सातवीं योजना	1985-90	2849
9.	दो वार्षिक योजनाएं	1990-92	1729
10.	आठवीं योजना	1992-97	9201
11.	नौवीं योजना	1997-02	11219

उल्लेखनीय है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से सरकार द्वारा दिए गए विभिन्न प्रयासों के फलस्वरूप प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में विशेष रूप से शिक्षण संस्थाओं, शिक्षकों की संख्या तथा विद्यालयों में बच्चों के नामांकन में प्रभावी रूप से बढ़ोत्तरी हुई है। प्राथमिक विद्यालयों की संख्या जो वर्ष 1951 में 2.23 लाख थी, 1996-97 तक बढ़कर 7.75 लाख तक पहुंच चुकी है। इन विद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों की संख्या भी इस अवधि में 6.24 लाख से 29.86 लाख हो गई है। वर्ष 1950-51 की तुलना में आठवीं योजना के अन्त तक अर्थात् (1996-97) तक प्रारंभिक विद्यालयों में बच्चों का नामांकन 2 करोड़ 23 लाख से बढ़कर 15 करोड़ 15 लाख तक पहुंच गया है। विभिन्न वर्षों में प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में हुए नामांकन में वृद्धि का विवरण

प्राथमिक शिक्षा के सर्वव्यापीकरण होने के लक्ष्य को शतप्रतिशत प्राप्त करने के लिए पिछले कुछ वर्षों में सरकार द्वारा कुछ विशेष और अतिरिक्त प्रयास भी किए गए हैं। देश में जनसंख्या की तीव्र वृद्धि के फलस्वरूप देश में प्राथमिक शिक्षा की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु औपचारिक प्राथमिक शिक्षा के साथ-साथ वर्ष 1979-80 से पूरे देश में 'अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम' भी चलाया गया है। इसके अन्तर्गत 6 से 11 वर्ष आयुवर्ग के ऐसे बच्चों को जो विद्यालय नहीं जा पाए या जिनके क्षेत्रों में विद्यालय उपलब्ध नहीं हैं अथवा जिन्हें किन्हीं कारणोंवश विद्यालय छोड़ देना पड़ा हो तथा कुछ बाधाओंवश स्कूल न जा सकने वाली बालिकाओं को और कामकाजी बच्चों को औपचारिक शिक्षा के समतुल्य शिक्षा उपलब्ध कराई

तालिका-2
प्राथमिक विद्यालयों में नामांकन की स्थिति

क्र.सं.	वर्ष	कक्षा 1 से 5 में नामांकन की स्थिति	कक्षा 6 से 8 में नामांकन की स्थिति	प्रारंभिक स्तर पर कुल नामांकन (करोड़ में)
1.	1950-51	1.92	.31	2.23
2.	1960-61	3.50	.67	4.17
3.	1968-69	5.44	1.25	6.69
4.	1970-71	7.16	1.93	9.09
5.	1989-90	9.73	3.22	12.95
6.	1991-92	10.16	3.45	13.61
7.	1992-93	10.54	3.87	14.41
8.	1993-94	10.82	3.99	14.81
9.	1994-95	10.90	4.02	14.92
10.	1995-96	10.98	4.10	15.08
11.	1996-97	11.04	4.11	15.15

जाती है। यह योजना शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े राज्यों में, शहरी गन्दी बस्तियों, पर्वतीय जन-जातीय और रेगिस्तानी क्षेत्रों में विशेष रूप से चलाई जा रही है। अनौपचारिक शिक्षा योजना सह-शिक्षा वाले अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रों हेतु 60 : 40 तथा बालिकाओं के लिए केन्द्र संचालित करने हेतु 90 : 10 के अनुपात में केन्द्र और सम्बन्धित राज्य द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहायता से चलाई गई है। वर्तमान में यह योजना 25 राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों में संचालित है जिसके अन्तर्गत पूरे देश में चलाए जा रहे 2 लाख 90 हजार अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रों में 72 लाख 50 हज़ार बच्चे नामांकित हैं। इन केन्द्रों में से 1 लाख 18 हजार केन्द्र केवल बालिकाओं के लिए शिक्षा सुलभ करा रहे हैं।

देश के सभी प्राथमिक विद्यालयों में आवश्यक भौतिक सुविधाओं की पूर्ति सुनिश्चित करने के उद्देश्य से वर्ष 1987-88 में "ऑपरेशन ब्लैक बोर्ड" कार्यक्रम भी लागू किया गया। इस कार्यक्रम के माध्यम से प्राथमिक विद्यालयों के लिए आवश्यक शिक्षण-कक्षों, पक्के भवन, प्रशिक्षित शिक्षक, शौचालय, पेयजल, शिक्षण सामग्री, फर्नीचर आदि के मानक तैयार करके सभी प्राथमिक विद्यालयों को इन सुविधाओं से आच्छादित करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 की संशोधित कार्ययोजना, 1992 में उच्च प्राथमिक (मिडिल) विद्यालयों को सम्मिलित करने तथा प्रत्येक विद्यालय में कम से कम तीन शिक्षक उपलब्ध कराने की सम्भावनाओं का पता लगाकर इसे मूर्त रूप देने का संकल्प किया गया है। इसके अतिरिक्त भी प्राथमिक शिक्षा में गुणात्मक रूप से सुधार लाने के उद्देश्य से वर्तमान में नामांकन बढ़ाने के अतिरिक्त स्थायित्व और उपलब्धि पर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित किया जा रहा है और इसके लिए विशेष प्रयास किए जा रहे हैं।

इसके अतिरिक्त प्राथमिक शिक्षा की सार्वभौमिकता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए वर्ष 1994 से शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए राज्यों जैसे बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, आन्ध्र प्रदेश, गुजरात आदि के चुने हुए जिलों में जिला 'प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम' (डी.पी.ई.पी.) भी विश्व बैंक की सहायता से चलाया गया है। प्राथमिक विद्यालयों

में बच्चों को पोषाहार की व्यवस्था करने और शिक्षा के प्रति उन्हें आकर्षण पैदा करने के उद्देश्य से 15 अगस्त, 1995 से पूरे देश में "मध्यान्ह भोजन योजना" भी चलाई जा रही है जिसके अन्तर्गत प्राथमिक विद्यालयों में कक्षा 1 से 5 तक अध्ययनरत विद्यार्थियों को अनाज, संसाधित भोजन उपलब्ध कराया जाता है। वर्ष 1998-99 में प्राथमिक कक्षाओं में देश के 9.66 करोड़ बच्चों को पोषाहार उपलब्ध कराने हेतु 960 करोड़ रुपए की धनराशि केन्द्र सरकार द्वारा प्राविधानित की गई। अगले वर्षों में इसमें निरन्तर वृद्धि किया जाना अपरिहार्य है।

प्राथमिक शिक्षा की सर्वसुलभता और सर्वव्यापकता के उद्देश्य की पूर्ति हेतु केन्द्र सरकार के अलावा विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा भी कुछ विशेष प्रयास किए गए हैं जैसे राजस्थान में घुमन्तू जनजाति के परिवारों के बच्चों को शिक्षा उपलब्ध कराने के लिए "सचल विद्यालय", बिहार सरकार द्वारा चरवाहों को विशेष रूप से प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराने के लिए "चरवाहा विद्यालय", उत्तर प्रदेश में "आश्रम पद्धति विद्यालय", "शिक्षा मित्र योजना", "शिक्षा गारंटी योजना" जैसी कई योजनाएं और कार्यक्रम भी चलाए गए हैं लेकिन सत्यता यह भी है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पांच दशकों के बाद भी हम प्राथमिक शिक्षा तक अपने देश के सभी बच्चों को मुहैया नहीं कर सके हैं। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली के छठवें सर्वेक्षण, 1996 के अनुसार देश में केवल 50 प्रतिशत बस्तियों जिनमें 73 प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है, में ही प्राथमिक विद्यालय उपलब्ध हैं। इनमें से अधिकांश विद्यालयों में वे न्यूनतम सुविधाएं भी उपलब्ध नहीं है जो कि शिक्षा प्राप्त करने के लिए आवश्यक समझी गई हैं। इस सम्बन्ध में किए गए एक अन्य सर्वेक्षण के अनुसार देश के ग्रामीण क्षेत्रों में 82 प्रतिशत प्राथमिक विद्यालयों में आवश्यकतानुसार कमरे भी उपलब्ध नहीं हैं। देश के 45 प्रतिशत प्राथमिक विद्यालय या तो बिना भवन के हैं या कच्चे-पक्के भवनों अथवा खुले मैदान में चल रहे हैं। 37 प्रतिशत विद्यालयों में तो एक ही कमरा उपलब्ध है और लगभग एक तिहाई विद्यालयों में मात्र एक ही अध्यापक कार्यरत है। इसके अतिरिक्त 65 प्रतिशत विद्यालयों में टाट्-पट्टी तथा आवश्यक फर्नीचर तक का अभाव है। सर्वेक्षण के मुताबिक 55.5 प्रतिशत प्राथमिक विद्यालयों में तो पीने के पानी की भी समुचित व्यस्थता नहीं है। खेल के मैदान तो केवल 42.3 प्रतिशत विद्यालयों में ही उपलब्ध हैं। 99 प्रतिशत प्राथमिक विद्यालयों में एक भी समाचारपत्र मंगाने की व्यवस्था नहीं है और 97 प्रतिशत विद्यालय बिना शौचालयों के तथा एक तिहाई विद्यालय बिना चॉक एवं डस्टर के चल रहे हैं।

प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में एक विशेष कठिनाई बच्चों के विद्यालय में नामांकित हो जाने के बाद विद्यालय छोड़ देने की भी है। जैसे देश में कक्षा 1 से 5 तक लगभग 50 प्रतिशत और कक्षा 6 से 8 तक लगभग 72 प्रतिशत बच्चे शिक्षा पूर्ण किए बिना ही विद्यालय छोड़ जाते हैं और इस प्रकार शत प्रतिशत नामांकन प्राप्त करने के सारे प्रयास असफल रह जाते हैं।

प्राथमिक शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ विशेष वर्गों जैसे अनुसूचित जाति एवं जनजाति, बालिकाओं आदि की स्थिति और भी ज्यादा बदतर है। अनुसूचित जाति एवं जनजाति से सम्बन्धित बच्चों के सम्बन्ध में किए गए एक सर्वेक्षण में पाया गया कि अनुसूचित जाति के ग्रामीण विद्यार्थियों का प्रतिशत मात्र 29 है। इसी प्रकार बालिकाओं की स्थिति शिक्षा के प्रत्येक वर्ग में काफी दयनीय है। सर्वेक्षण के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में अनुसूचित जाति की 60 प्रतिशत तथा अनुसूचित जनजाति की 75 प्रतिशत बालिकाएं अपनी प्राथमिक शिक्षा भी पूरी नहीं कर पातीं। नगरों से तुलना करने पर यह अन्तर और भी अधिक बढ़ जाता है जिसके अनुसार 38 प्रतिशत ग्रामीण व 29 प्रतिशत नगरीय बालकों की तुलना में क्रमशः 57 प्रतिशत व 36 प्रतिशत बालिकाएं अपनी स्कूली पढ़ाई अधूरी ही छोड़ देते हैं।

देश में प्राथमिक शिक्षा की दयनीय स्थिति का इस सम्बन्ध में किए गए एक ताजा सर्वेक्षण के नतीजों से भी अंदाजा लगाया जा सकता है कि 6 वर्ष तक के 80 प्रतिशत से अधिक बच्चे सरकारी प्रयासों और अभिभावकों में शिक्षा के प्रति पैदा हुई जागरूकता के कारण विद्यालय में तो प्रवेश ले पाते हैं किन्तु इनमें से 20 प्रतिशत से भी अधिक की उपस्थिति नियमित नहीं होती है। 6 से 10 तक की आयु के लगभग 70 प्रतिशत बच्चे नियमित रूप से स्कूल तो जाते हैं लेकिन इनमें से एक तिहाई प्राथमिक शिक्षा पूरी

किए बिना ही पढ़ाई छोड़ देते हैं। 1986 से 1993 के बीच लड़कियों के नामांकन में यद्यपि 20 प्रतिशत की वृद्धि अंकित की गई किन्तु इन 8 वर्षों में प्रवेश लेकर शिक्षा जारी रखने वालों की दर इस अनुपात में नहीं बढ़ सकी है। वर्तमान वृद्धि दर को आधार बनाते हुए सन् 2007 तक अथवा 10वीं पंचवर्षीय योजना के अन्तिम वर्ष में 6 से 11 वर्ष आयु के सभी बच्चों को भी स्कूल भेजने के लिए 13 लाख स्कूली कक्षाओं और 7 लाख 40 हजार नए शिक्षकों की आवश्यकता पड़ेगी जबकि वास्तविकता यह है कि वर्तमान प्राथमिक विद्यालयों में आवश्यकता के अनुरूप अभी भी कक्षा-कक्ष उपलब्ध नहीं हैं और जहां उपलब्ध भी हैं उनमें से अधिकांश ऐसे हैं जो निर्धारित मानकों के अनुरूप भी नहीं हैं और ऐसी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है जो न तो वर्षा के दिनों में बच्चों को पानी से बचा सकते हैं और न भयंकर शीत और ग्रीष्म में सर्द और गर्म हवाओं से उनको सुरक्षा प्रदान कर सकते हैं। अधिकांश विद्यालयों में शिक्षकों की बेहद कमी है। दूर-दराज और दुर्गम क्षेत्रों में पहले तो प्राथमिक विद्यालय बहुत कम स्थानों पर उपलब्ध हैं और यदि विद्यालय हैं भी तो उनमें या तो शिक्षक नियुक्त ही नहीं है या फिर वे यदा-कदा ही विद्यालय में पढ़ाने के लिए उपलब्ध होते हैं।

प्राथमिक शिक्षा की सार्वभौमिकता में देश में व्याप्त गरीबी और उसके पैरासाइट के रूप में बाल मजदूरी प्रथा भी बाधक रही है। यद्यपि सरकारी या सरकारी अनुदान प्राप्त विद्यालयों में प्राथमिक शिक्षा बिलकुल निःशुल्क है लेकिन फिर भी दिल्ली स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स के शोधार्थियों द्वारा किए गए राजस्थान, मध्य प्रदेश, बिहार और उत्तर प्रदेश के कुछ चुने हुए क्षेत्रों में किए गए सर्वेक्षण के आधार पर एक बच्चे को सरकारी प्राथमिक विद्यालय में भेजने के लिए अभिभावक को प्रतिवर्ष 366/- रुपए खर्च करने पड़ते हैं। उन लाखों परिवारों के लिए जिनमें स्कूल जाने वाले कई बच्चे हो उन पर यह एक आर्थिक बोझ भी है जिसे वे सामान्य परिस्थितियों में उठा ही नहीं सकते। विशेष रूप से यह आर्थिक बोझ लड़कियों की पढ़ाई को और भी अधिक प्रभावित करती है जहां माता-पिता यह मानते हैं कि लड़कियों की शिक्षा का लाभ लड़की की ससुराल वाले उठाएंगे तो फिर अनावश्यक खर्चा हम क्यों करें। इसके अतिरिक्त देश में बहुत सारे गांव और बस्तियां ऐसी हैं जहां प्राथमिक विद्यालय की आस-पास सुलभता भी नहीं है। यद्यपि देश में कक्षा एक से 5 तक के विद्यालय के लिए एक किमी. तथा कक्षा 6 से 8 तक के विद्यालय के लिए तीन किमी. के अन्दर विद्यालय उपलब्ध कराने का राष्ट्रीय मानक निर्धारित है। लेकिन अभी भी सरकारी आंकड़ों के अनुसार भी देश की ग्रामीण जनसंख्या के 94 प्रतिशत भाग को ही एक किमी. में प्राथमिक विद्यालय तथा 84 प्रतिशत जनसंख्या को तीन किमी. के भीतर मिडिल स्तर के विद्यालय उपलब्ध कराया जाना सम्भव हो सका है। इससे स्पष्ट है कि अभी भी अनेक गांव और बस्तियां अवशेष हैं जहां कई-कई किमी. तक प्राथमिक विद्यालय उपलब्ध नहीं है। इन परिस्थितियों में चाहते हुए भी अभिभावक अपने बच्चे को विद्यालय भेजने में असमर्थ रहते हैं और उसका परिणाम होता है देश में निरक्षरों की संख्या की वृद्धि। शायद इसीलिए भी सरकार संविधान की धारा 45 की भावनाओं के अनुरूप प्राथमिक शिक्षा को सम्पूर्ण देश में अनिवार्य भी घोषित नहीं कर सकी है।

21वीं शताब्दी में कम से कम प्राथमिक शिक्षा सभी को अनिवार्य रूप से सुलभ हो, इसके लिए सरकार को कुछ दूरगामी, विद्वतापूर्ण, कठोर और निर्णायक कदम उठाने की महती आवश्यकता है। अब तक पिछले पांच दशकों में सरकार द्वारा इस सम्बन्ध में जो भी नीतियां बनाई गईं, उनके क्रियान्वयन में अरबों-खरबों रुपए खर्च भी किए गए, कुछ नवीन प्रयोग और नए-नए कार्यक्रम भी चलाकर लक्ष्य पूर्ति के प्रयास किए गए लेकिन कोई खास अच्छे परिणाम नजर नहीं आ रहे हैं। नई शताब्दी की चुनौतियों का सामना करने के लिए यह आवश्यक है कि अब पुराने प्रयोगों, अनुभवों और कमियों को न दोहराया जाए और कुछ ऐसे विशेष और ठोस प्रयास किए जाएं जिनमें असफलतापूर्ण गुंजाइश नहीं के बराबर हो। इस दिशा में पहले कदम के रूप में सरकार को प्रत्येक दशा में देश के छोटे-से छोटे गांव, मजरे अथवा बस्ती में चाहे वह दूर-दराज के क्षेत्र हों, पहाड़ी और दुर्गम इलाके हों, रेगिस्तानी अथवा वनों से आच्छादित सुदूरवर्ती जनजातीय क्षेत्र हों, के बच्चों को प्राथमिक विद्यालय की सुलभता उनके पास ही किया जाना परमावश्यक होगा।

देश के सभी क्षेत्रों में विद्यालयों की स्थापना और उनमें आवश्यक भौतिक सुविधाएं जुटाने के लिए यद्यपि सरकार

अब तक धनाभाव का राग अलापती रही है जिसमें कुछ सच्चाई तो है लेकिन सरकार के लिए यह कोई ऐसी असम्भव बात नहीं है कि जिससे यह राजनैतिक और प्रशासकीय इच्छाशक्ति के होने पर भी सम्भव न हो सके। हां! आवश्यकता इस बात की है कि सरकार इसे अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा, राष्ट्रीय महत्व और सामाजिक क्रान्ति का एक अहम् मुद्दा मानते हुए इसके लिए जी-तोड़ प्रयास करे। अतः देश में प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिए सबसे पहले देश के सभी क्षेत्रों में विद्यालयों की उपलब्धता और इन विद्यालयों में शिक्षकों की आपूर्ति सहित सामान्य रूप से आवश्यक भौतिक सुविधाएं जुटाने के लिए समुचित व्यवस्था किया जाना नितान्त रूप से अनिवार्य होगा। इस कार्य में सरकार को देश के विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत प्रतिष्ठित स्वयंसेवी संगठनों, स्थानीय शहरी निकायों और त्रिस्तरीय ग्रामीण पंचायतों का भी भरपूर सहयोग प्राप्त किया जाना चाहिए। देश में 73वें और 74वें संविधान संशोधन के पारित हो जाने के बाद यद्यपि प्राथमिक शिक्षा को तो पूर्णतः पंचायतों के अधीन करने के प्रावधान किए गए हैं और इस दिशा में विभिन्न राज्यों द्वारा आवश्यक कदम उठाए भी गए हैं।

अतः दूसरे महत्वपूर्ण कदम के रूप में सरकार को प्राथमिक शिक्षा की सम्पूर्ण व्यवस्था त्रिस्तरीय पंचायतों के सुपुर्द कर देनी चाहिए। इसमें आवश्यक संसाधनों की उपलब्धता प्रारंभ में तो यद्यपि सरकार को ही सुनिश्चित करनी होगी और समन्वय एवं पर्यवेक्षण की प्रभावी व्यवस्था भी करनी पड़ेगी लेकिन शनैः-शनैः इसे पूर्णतया पंचायतों के ऊपर छोड़ा जाना चाहिए। पंचायतीराज संस्थाओं के माध्यम से प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था का उत्तरदायित्व सौंपा जाना चाहिए। ऐसा इसलिए भी अधिक कारगर होगा कि स्थानीय लोगों और दूसरे शब्दों में उपभोक्ताओं के प्रति जबावदेही को सुनिश्चित किया जाना सम्भव हो सकेगा। विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों के प्राथमिक विद्यालयों में शिक्षकों के विद्यालय न जाने और शिक्षण कार्य न करने जैसी शिकायतों के निराकरण पर भी प्रभावी कार्यवाही पंचायतों द्वारा अधिक प्रभावी होगी। पंचायतों को प्राथमिक शिक्षा शुरू किए जाने से एक और विशेष लाभ यह होगा कि विद्यालय भवनों के निर्माण और अनुरक्षण आदि पर किए जाने वाले व्यय में अच्छी-खासी कमी लाना सम्भव हो सकेगा क्योंकि पंचायतें स्थानीय रूप से उपलब्ध निर्माण सामग्री का प्रयोग करके विद्यालयों, भवनों का निर्माण एवं समुचित देखभाल और अपनत्व का भाव रखने के कारण कम खर्च में इसे सम्भव कर सकेंगी। अतः हर हालत में ग्राम पंचायतों को कम से कम प्राथमिक शिक्षा का सम्पूर्ण प्रबन्ध, व्यवस्था और उत्तरदायित्व सुपुर्द किया जाना अति व्यावहारिक, उपयोगी एवं कारगर होगा।

इस क्षेत्र में तीसरा महत्वपूर्ण कदम हमारे संविधान में की गई व्यवस्थाओं और उसकी भावनाओं के अनुरूप पूरे देश में प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाते हुए उठाया जा सकता है। प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने से तात्पर्य यह होगा कि विकसित देशों की भांति हमें अभिभावकों को कानूनी रूप से अपने बच्चों को आवश्यक रूप से विद्यालयों में भेजने हेतु बाध्यकारी बनाना होगा। इसके लिए संविधान संशोधन करके यह प्राविधान कराना होगा कि जो अभिभावक अपने बच्चों को विद्यालयों में नहीं भेजेंगे अथवा और कोई ऐसे व्यक्ति जो इन बच्चों को स्कूल जाने में बाधक होंगे उनके खिलाफ दण्डात्मक कार्यवाही की व्यवस्था करके उसको कड़ाई के साथ लागू कराया जाना आवश्यक होगा। इस सम्बन्ध में यद्यपि पहले भी कुछ राज्यों ने 50 के दशक में प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिए पहल के रूप में अनिवार्य शिक्षा अधिनियम पारित तो किए लेकिन उनका क्रियान्वयन सम्भव नहीं हो सका क्योंकि इन व्यवस्थाओं को लागू नहीं कर सकने के पीछे दो प्रमुख कारण उत्तरदायी रहे। पहला प्रमुख कारण तो सभी क्षेत्रों में विद्यालय की अनुपलब्धता रहा और दूसरा प्रमुख कारण देश में व्याप्त गरीबी के कारण स्कूल जाने योग्य आयु के बच्चों को आर्थिक कार्यों में लगाए रखना आवश्यक मानते हुए शिक्षा पर होने वाले व्यय का बोझ उठाने की उनकी असमर्थता। लेकिन अब प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने से पूर्व सभी क्षेत्रों में विद्यालयों की उपलब्धता और प्राथमिक शिक्षा को पूर्ण रूप से निःशुल्क करने के साथ गरीबों के लिए पोषक आहार और पाठ्य सामग्री की व्यवस्था करते हुए गरीब परिवारों को सरकार की विभिन्न कल्याणकारी और विकास योजनाओं में लाभान्वित कर बच्चों पर उनकी आर्थिक निर्भरता को समाप्त करना होगा तभी अभिभावक भी निःसंकोच रूप से अपने बच्चों को विद्यालय भेजने हेतु तत्पर हो सकेंगे।

इस सम्बन्ध में चौथा महत्वपूर्ण कदम प्राथमिक शिक्षा को एक सघन अभियान के रूप में चलाकर सम्पूर्ण जन जागृति हेतु जन सहयोग और जन सहभागिता को प्राप्त किया जाना भी अति आवश्यक है। सरकारी एवं गैर सरकारी प्रचार माध्यमों को इस दिशा में एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करना होगा। हालांकि पिछले कुछ वर्षों में शिक्षा के प्रति जनसामान्य की जागरूकता में काफी अभिवृद्धि हुई है लेकिन अभी इस दिशा में और अधिक प्रयास किए जाने की आवश्यकता है।

प्राथमिक शिक्षा को विस्तृत और सर्वव्यापी बनाने के लिए पांचवें महत्वपूर्ण कदम के रूप में अभिभावकों और शिक्षकों का आर्थिक शोषण करने वाले तथाकथित पब्लिक, कान्वेन्ट, मॉन्टेसरी अथवा मॉडल आदि नामों से प्रचलित स्कूलों पर प्रभावी अंकुश और नियन्त्रण रखने की भी महती आवश्यकता है। व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के तौर पर अधिकाधिक लाभार्जन के उद्देश्य से चलाए जा रहे और इन विद्यालयों द्वारा बटोरे जा रहे विकास, भवन और शिक्षण आदि शुल्कों के नाम पर अनियन्त्रित धन वसूली भी निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति में बाधक रही है और समय-समय पर समाज द्वारा इन विद्यालयों के अस्तित्व और वर्चस्व पर प्रश्नचिन्ह लगाए जाते रहे हैं। हालांकि वर्तमान जनतांत्रिक एवं खुली अर्थव्यवस्था में इसका बन्द किया जाना तो उपयुक्त नहीं कहा जा सकता परंतु इसके प्रशासन, धन वसूली, पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तकें, फीस आदि व्यवस्थाओं पर प्रभावी और कारगर नियन्त्रण की व्यवस्था की जानी चाहिए। चूंकि स्कूलों में अधिकांशतया एक विशेष वर्ग अथवा सुदृढ़ आर्थिक स्थिति वाले परिवारों के बच्चे ही पढ़ते हैं। अतः इन विद्यालयों का प्रत्यक्ष रूप से और इनमें पढ़ने वाले बच्चों के अभिभावकों से अप्रत्यक्ष रूप से प्राथमिक शिक्षा की सर्वव्यापकता के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए धनाभाव की समस्या से जूझने के लिए उनका सहयोग लिया जा सकता है। प्राथमिक शिक्षा के भारी-भरकम बोझ को उठाने के लिए सरकार इन विद्यालयों पर इनमें पढ़ने वाले बच्चों की संख्या के आधार पर शिक्षा कर के रूप में कुछ धन वसूल कर सकती है जिसे सुदूर क्षेत्रों में विद्यालयों की स्थापना और विद्यालयों में आवश्यक सुविधाओं की पूर्ति के लिए सहयोग राशि के रूप में भी प्राप्त किया जा सकता है। यदि इन पब्लिक स्कूलों पर प्रति विद्यार्थी 500/- रुपए अथवा 1000/- रुपए प्रतिवर्ष का शिक्षा कर लगाकर वसूल किया जा सके तो देश में चल रहे हजारों पब्लिक स्कूलों में पढ़ रहे लाखों विद्यार्थियों से कम से कम 5 से 10 करोड़ रुपए की धनराशि सरकार को प्रतिवर्ष प्राप्त हो सकती है। हालांकि कुछ लोग प्रत्यक्ष कर के रूप में बहुत समय से सामान्य शिक्षा कर लगाने की बात पर चर्चा करते रहे हैं लेकिन जहां एक-तिहाई से भी अधिक लोग गरीबी की रेखा के नीचे गुजर-बसर कर रहे हों, एक सामान्य सी आमदनी वाले व्यक्ति को भी भारी-भरकम आयकर देने की मजबूरी हो, वहां जन सामान्य इस कर का बोझ बर्दाश्त नहीं कर पायेगा और ऐसा उनके साथ नाइंसाफी ही कही जाएगी। लेकिन पब्लिक स्कूलों पर इस प्रकार के कर को लगाना अन्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

छठवें और विशेष प्रयास के रूप में आर्थिक बोझ और कठिनाइयों को कम करने की दिशा में एक कदम यह उठाया जा सकता है कि प्राथमिक शिक्षा भी पूरी तरह निःशुल्क न करके केवल उन गरीब लोगों के लिए निःशुल्क रखी जाए जो वास्तव में स्कूल का खर्च उठाने के योग्य नहीं हैं। इस प्रकार प्राथमिक शिक्षा के लिए धनाभाव का सरकार द्वारा जो रोना रोते हुए अपने उत्तरदायित्वों से विमुख रहने का जो तर्क दिया जाता रहा है, उससे भी मुक्ति मिल सकेगी। अब समय आ गया है कि सरकार को कम से कम प्राथमिक शिक्षा की तो देश के प्रत्येक बच्चे को हर हालत में व्यवस्था सुनिश्चित करनी ही पड़ेगी। इसके लिए क्या कदम उठाने आवश्यक हैं, उसे तय करके अतिशीघ्र उन पर अमल करने की महती आवश्यकता है। ❑❑

संयुक्त निदेशक (प्रशासन)
प्रशिक्षण प्रभाग
राज्य नियोजन संस्थान, उ. प्र.
कालाकांकर भवन, पुराना हैदराबाद, लखनऊ

उच्च माध्यमिक स्तर पर समाजशास्त्र का अध्यापन : विषय-वस्तु, क्षेत्र एवं मूल्यांकन की योजनाएं

❑ मंजू भट्ट

आज हम जिस प्रकार के जटिल समाज में रह रहे हैं उसमें समाजशास्त्र का अध्ययन न केवल उपयोगी वरन् आवश्यक भी हो गया है। जातीय एवं धार्मिक कारकों में क्षेत्रीय भिन्नता के कारण, नगरीकरण एवं औद्योगीकरण की प्रक्रिया के प्रभाव के कारण घटनाओं में इतनी अधिक जटिलता आ गई है जिसकी विद्यार्थी को समाज की वैज्ञानिक आधार पर जानकारी आवश्यक है। हम इन प्रबुद्ध किशोर मस्तिष्कों को ऐसा वस्तुनिष्ठ विश्लेषण दें ताकि वे सामाजिक संरचना को एक तार्किक समझ के साथ देखते हुए उसमें परिवर्तन की प्रक्रिया में अपनी सहभागिता देने योग्य बन सकें।

समाजशास्त्र का अध्ययन

कक्षा दस तक के अपने शिक्षण को समाप्त करने के पश्चात जब यह समझा जाता है कि अब विद्यार्थी अपनी रुचियों एवं रुझान के प्रति जागरूक हो चुका है, और वह समर्थ है मनचाही दिशा में अपनी शिक्षा को अग्रसर करने के लिए। इसी स्तर में वह अपनी पढ़ाई को आगे अपने इच्छित विकल्पों के साथ बैठा पाता है। यहां पर कला वर्ग के विद्यार्थी को अन्य अनेक विषयों के साथ ही साथ समाजशास्त्र भी एक विकल्प के रूप में उपलब्ध होता है। यह समझा जाता है कि इस स्तर को परिपूर्ण करने के बाद विद्यार्थी समाज की प्रकृति और प्रारूप के प्रति अपना एक दृष्टिकोण विकसित कर पाने में समर्थ होता है। वह समाज की दशा को ठीक तरह से समझ पाने में भी समर्थ हो चुका होता है।

विद्वानों द्वारा यह देखे जाने पर कि समाज में व्याप्त प्रत्येक उपादान जैसे कि राजनीति, आर्थिक व्यवस्था, प्रशासनिक व्यवस्था इत्यादि सभी विषयों के अध्ययन के लिए एक पृथक शास्त्र है लेकिन जिस समाज में रहकर इन सब विषयों का पठन पाठन हो रहा है उसी समाज के अध्ययन के लिए किसी भी शास्त्र का प्रावधान नहीं है, इसी सोच के परिणामस्वरूप समाजशास्त्र की उत्पत्ति हुई और जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है यह एक ऐसा शास्त्र है जो कि समाज का अध्ययन वैज्ञानिक आधार पर करता है। सर्वप्रथम फ्रांस के विद्वान आगस्त कोंत ने समाज के अध्ययन के लिए एक शास्त्र की कल्पना की। कोंत सामाजिक जीवन के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए एक नए विज्ञान की स्थापना करना चाहते थे। उनकी योजना के अनुसार यह प्रस्तावित विज्ञान भौतिक विज्ञानों की अध्ययन विधियों, निरीक्षण तथा परीक्षण का प्रयोग करेगा। साथ ही यह ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक विधियों का भी इस्तेमाल करेगा। वे समाजशास्त्र को वैज्ञानिक शास्त्रों के समकक्ष मानने पर जोर देते हैं, और इसे वही दर्जा देते हैं जो कि प्राणी विज्ञान, रसायन विज्ञान एवं भौतिकी इत्यादि को प्राप्त है। उनके प्रयासों के फलस्वरूप 1838 में समाजशास्त्र एक पृथक विषय के रूप में उभर कर सामने आया। आगे चलकर जिन विद्वानों ने समाजशास्त्र के विकास में योगदान दिया वे हैं, कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर, एमील दुर्खीम एवं हरबर्ट स्पेंसर। इन्होंने समाजशास्त्र को एक बौद्धिक नेतृत्व

दिया एवं सामाजिक जीवन से संबंधित अवधारणाओं का प्रतिपादन किया। सर्वप्रथम समाजशास्त्र का अध्ययन एक अमेरिकी विश्वविद्यालय ने प्रारंभ किया। भारत में सर्वप्रथम 1900 में मुंबई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र का एक विषय के रूप में शिक्षण प्रारंभ किया गया।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद ने 1975 में इस तथ्य को महसूस किया कि मानव संबंधों का वैज्ञानिक निरूपण करने के लिए एक पृथक शास्त्र होना चाहिए। साथ ही यह भी महसूस किया गया कि मानव संबंधों की संरचना और प्रकार्य के अध्ययन के लिए भी एक विशिष्ट शास्त्र हो जो कक्षा 11 से प्रारंभ होना चाहिए। इन समस्त आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु, समाजशास्त्र के औपचारिक शिक्षण का प्रावधान किया गया। सर्वप्रथम प्रो. एस.सी. दुबे एवं प्रो. योगेन्द्र सिंह की पुस्तकें कक्षा 11 एवं कक्षा 12 के विद्यार्थियों के लिए उपलब्ध करवाई गईं। समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए कई परिवर्तन इस विषय में भी आते चले गए। राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1986 की नीतियों को ध्यान में रखते हुए उन बिंदुओं को चुना गया जो कि समाज के अध्ययन के लिए आवश्यक माने गए। इन्हीं चुनिंदा बिंदुओं के आधार पर कक्षा 11 एवं कक्षा 12 की नई पुस्तकों का प्रावधान किया गया और वे क्रमशः प्रो. एस.एम. दुबे (समाजशास्त्र एक परिचय) एवं प्रो. के. एल. शर्मा (भारतीय समाज) द्वारा लिखी गई। कक्षा 11 की पुस्तक जिसे कि प्रो. एस.एम. दुबे ने लिखा वह मूल रूप से हिन्दी में लिखी गई और श्रीमती सुशीला डोभाल ने उसका अंग्रेजी में अनुवाद किया। इस बात का उल्लेख यहां इसलिए किया जा रहा है, क्योंकि अधिकांशतः परिषद् की पुस्तकें पहले अंग्रेजी में लिखी जाती हैं, और बाद में उनका हिन्दी में अनुवाद होता है। यहां इसके ठीक विपरीत पद्धति अपनाई गई। क्योंकि छात्र औपचारिक तौर पर पहली बार समाजशास्त्र का अध्ययन करेंगे, अतः कुछ बुनियादी पक्षों को इस पुस्तक में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया, उदाहरण के लिए विद्यार्थियों को समाजशास्त्र की विषयवस्तु का परिचय प्राप्त होना चाहिए, साथ ही समाजशास्त्र का क्रमबद्ध विकास, सर्वेक्षण की प्रणाली एवं पद्धतियां, मूलभूत अवधारणाएं, सामाजिक प्रक्रिया, प्रणाली एवं व्यवस्था का ज्ञान छात्रों को प्राप्त होना चाहिए। यह इतना सरल हो कि इस स्तर के छात्र इसे आसानी से आत्मसात कर पाएं। भाषा भी अधिक जटिल न होकर यथासंभव सरल होनी चाहिए। अगर कहीं पर समाजशास्त्रीय शब्दावली के कठिन शब्द दिए हो तो उनकी व्याख्या सरल शब्दों में होनी चाहिए।

कक्षा 12 की पुस्तक छात्रों को भारतीय समाज से परिचित करवाती है। इसमें भारतीय समाज को उसमें होने वाले विकास एवं परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में समझाया गया है। भारतीय समाज की संरचना एवं प्रक्रियाओं की समालोचनात्मक रूप से व्याख्या की गई है। भारतीय समाज के उद् विकास को समझाते हुए समय-समय पर होने वाले सुधार आन्दोलनों एवं राष्ट्रीय आन्दोलनों की भी चर्चा की गई है। भारतीय समाज में पाई जाने वाली अनूठी व्यवस्था जो कि जाति प्रथा के नाम से जानी जाती है उसकी चर्चा के साथ-साथ अनुसूचित जातियां, अनुसूचित जनजातियां एवं अन्य पिछड़े वर्गों की बात भी की गई है। भारतीय समाज के अन्य महत्वपूर्ण पहलुओं को भी अछूता नहीं छोड़ा गया है जैसे स्त्रियों की प्रस्थिति, नातेदारी, विवाह, परिवार, राज्य समाज, अपराध एवं जनसंख्या की समस्या, राष्ट्रीय एकीकरण इत्यादि। इन सभी उपरोक्त पहलुओं को सामाजिक परिवर्तन के साथ सम्बद्ध करते हुए सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांतों की भी चर्चा की गई है।

इस स्तर पर समाजशास्त्र में होने वाले पठन पाठन के पाठ्यक्रम को भी रा.शै.अ.प्र.प. ने बड़ी ही सावधानी के साथ तैयार किया है। यह माना गया है कि समाजशास्त्र मानव व्यवहार के बारे में समझ को बहुत विस्तारपूर्वक देखता है, साथ ही वह उस सामाजिक पर्यावरण की भी जानकारी देता है जिसमें कि वह विचार विकसित होता है। यह विशेषरूप से जटिल सामाजिक वास्तविकताओं से सम्बद्ध अन्य सरल प्रत्यक्ष ज्ञान के बोध में भी सहायक होता है। यह प्राकृतिक विज्ञानों एवं समाज विज्ञानों के बीच पुल का काम भी करता है क्योंकि यह मानव के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक उपागमों की सहायता लेता है।

आज हम जिस प्रकार के जटिल समाज में रह रहे हैं उसमें समाजशास्त्र का अध्ययन न केवल उपयोगी वरन

आवश्यक भी हो गया है। जातीय एवं धार्मिक कारकों में क्षेत्रीय भिन्नता के कारण (जो कि भारत की एक विशेषता है) घटनाओं में इतनी अधिक जटिलता आ गई है कि आज का विद्यार्थी जो कि कल का नागरिक होगा, के लिए इन घटनाओं का वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठ विश्लेषण कर इनके बारे में जानकारी प्राप्त करना भी आवश्यक हो जाता है। आज संसार के लगभग प्रत्येक देश में नगरीकरण एवं औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित किया है, हालांकि एक देश से दूसरे देश में एवं एक ही देश के अलग-अलग क्षेत्रों में इसकी गति में भिन्नता पाई जाती है। भारत में नगरीकरण एव औद्योगीकरण के इन तथ्यों के अलावा क्षेत्रीय एवं भाषाई भिन्नताएं सामाजिक स्थिति को और भी अधिक जटिल बना देती है। फिर भी इस बात की आवश्यकता है कि हम इन प्रबुद्ध किशोर मस्तिष्कों को ऐसा वस्तुनिष्ठ विश्लेषण दें ताकि ये सामाजिक संरचना को एक तार्किक समझ के साथ देखते हुए सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में अपनी सहभागिता देने योग्य हो जाएं। अतः समाजशास्त्र को पढ़ाने के लिए आधुनिक शिक्षा पद्धति जिसमें कि प्रश्नों के साथ ही व्याख्यात्मक उत्तर भी होते हैं कि आवश्यकता होगी। इन युवा समाज वैज्ञानिक मस्तिष्कों को अपने समाज की व्यवस्था के बारे में समझ पैदा करने की ओर अभीष्ट या वांछनीय सामाजिक परिवर्तन को स्वकीर करने की आवश्यकता है।

इन युवा विद्यार्थियों में यह सामर्थ्य लाने की आवश्यकता है ताकि वो समाज और सामाजिक संबंधों को वस्तुनिष्ठता के साथ देखें, तथा उन्हें राष्ट्रीय एकता को समझने में प्रोत्साहन मिल सके। ये राष्ट्रीय लक्ष्य तब और अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं जब ये युवा सामाजिक व्यवहारों के नियम के अनुसार सीखना शुरू करते हैं, संकीर्ण पूर्वाग्रह एवं सोचने का दकियानूसी तरीका इन सबको वह अपने मन से निकाल पाने में सक्षम हो पाता है। उदाहरण के लिए जाति एवं धर्म का परिवर्तित परिवेश में विश्लेषणात्मक एवं तथ्यपरक अध्ययन करते हुए वह इतना समर्थ हो जाए कि इन्हें अपने विवेक द्वारा समझते हुए इनमें व्याप्त कुरीतियों से दूर रहे।

कुछ ऐसे उद्देश्य हैं जिनकी विशेष रूप से पूर्ति के लिए भी हम समाजशास्त्र का अध्ययन करते हैं। समाजशास्त्र का अध्ययन सर्वप्रथम विद्यार्थी को इतना सक्षम बनाता है कि वह सामाजिक वास्तविकताओं को वस्तुगत या निष्पक्ष दृष्टि से देख सके। उसे समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणा की भी जानकारी होनी चाहिए। उन्हें समाज में हो रहे विकास एवं परिवर्तन की भी जानकारी हो, साथ ही सामाजिक संबंधों पर इनके प्रभाव से भी वह परिचित हो। इन समस्त वास्तविकताओं को वह वैज्ञानिक प्रकृति के आधार पर अपनी मनःस्थिति में बिठा ले।

सामाजिक विज्ञानों की अध्यापन की पद्धतियां

चाहे कितना भी अच्छा पाठ्यक्रम और कितना भी अच्छा पाठ्य विवरण हो इन दोनों का तब तक कोई लाभ नहीं है जब तक उसे सही अध्ययन पद्धति के माध्यम से न पढ़ाया जाए। अध्ययन पद्धति का अध्यापन के समस्त तत्वों से घनिष्ट संबंध है। चाहे वह पढ़ना-पढ़ाना हो, चाहे अध ययन लक्ष्य हो, चाहे अध्ययन उद्देश्य हो, चाहे वह अध्ययन परिणाम या अध्ययन मूल्य, ये समस्त तत्व अध्यापन पद्धति से संबद्ध हैं। इसीलिए प्रत्येक समाज विज्ञान के विषय में हमें बहुत ध्यानपूर्वक उसकी अध्यापन विधि चुनने की आवश्यकता है उसके लिए विभिन्न प्रकार की अध्ययन पद्धतियों की आवश्यकता होती है। ये अध्ययन पद्धतियां निम्नवत हैं :

कहानी सुनाने की पद्धति

अधिकांशतः छात्र कहानियों को बहुत रुचि से एवं ध यानपूर्वक सुनते हैं। किसी भी समाज विज्ञान में जो ऐतिहासिक भाग होता है उसे हम कहानी की तरह कक्षा में पढ़ा सकते हैं। परंतु इस पद्धति में अध्यापक को कुछ विशिष्ट तत्वों का ध्यान रखना चाहिए जैसे कि कहानी क्रमबद्ध रूप से होनी चाहिए बीच में **अरे मैं एक महत्वपूर्ण बात तो बताना ही भूल गया** इत्यादि बोलना कहानी के प्रभाव को समाप्त कर देता है। कहानी को पूरे विवरणों के साथ सुनाना चाहिए। किसी स्थान, व्यक्ति या वस्तु के बारे में पूरा विवरण दिया जाना चाहिए। कहानी का वृतांत रुचिकर होना चाहिए, रुचिकर शब्दों का इस्तेमाल करते

हुए, हाव, भाव, भंगिमा, हंसना इत्यादि के साथ कहानी सुनानी चाहिए। कहानी के संवादों को भी नाटकीय अंदाज में बोलना चाहिए।

इस पद्धति के अपने कुछ महत्व भी हैं जैसे कि इस तरह की पद्धति से छात्र की उस विषय में रुचि बढ़ती है। यह पद्धति छात्रों की कल्पना शक्ति के विकास में सहायक होती है। कहानी से छात्रों को अच्छे गुणों को आत्मसात करने में भी सहायता मिलती है। लेकिन साथ ही यह भी एक तथ्य है कि कहानी सुनाने की पद्धति केवल छोटी कक्षा के छात्रों के लिए ज्यादा उपयोगी साबित होती है।

व्याख्यान पद्धति

समाज विज्ञानों के अध्यापन की यह सबसे पुरातन पद्धति है। इस पद्धति द्वारा छात्रों को विषय की प्रामाणिक, क्रमबद्ध, प्रभावी जानकारी प्रदान की जा सकती है जोकि छात्रों के लिए अधिक उपयोगी होती है। व्याख्यान पद्धति को कई प्रकार से प्रयुक्त किया जा सकता है—

अध्यापक कुछ प्रेरणात्मक प्रसंगों या व्यक्ति विशेष का उल्लेख अपने व्याख्यान में करते हैं इससे छात्र उनसे प्रेरणा ले सीखने का प्रयास करते हैं। अधिकांशतः इसका उपयोग तब किया जाता है जब अध्यापक कोई नया प्रसंग या नई इकाई प्रारंभ करते हैं। जब किसी खास इकाई में सभी छात्रों को परेशानी हो रही हो तो उस स्थिति में अध्यापक एक छोटा भाषण उसे स्पष्ट करते हुए देते हैं ताकि सब उसे समझ सके, इससे समय की भी बचत हो जाती है। अपने व्याख्यान के दौरान अध्यापक छात्रों को ठीक से समझाते हुए एक बार फिर उस इकाई को संक्षिप्त करके समझाते हैं, और उसमें महत्वपूर्ण मुद्दों को दोबारा इंगित किया जाता है।

व्याख्यान अध्यापन का एक सर्वोत्तम तरीका है इसमें हम अतिरिक्त मुद्दों पर आसानी से बात कर सकते हैं। छात्र भी पाठ्यपुस्तक के अलावा जानकारी प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहते हैं। छात्र अध्यापक के यात्रा वृतांत या अनुभव इत्यादि जानने के लिए उत्सुक रहते हैं। अध्यापक अपने व्याख्यान को दिलचस्प किस्से, कहानियां, व्यक्तिगत अनुभव एवं बातचीत के द्वारा भी अपने विषय को समझा सकता है।

व्याख्यान के माध्यम से हम समाज विज्ञान के विषयों को अधिक रुचिकर बना सकते हैं क्योंकि बोल कर सुनी जाने वाली बातें लिखी हुई बातों से अधिक प्रभावपूर्ण होती हैं। व्याख्यान के माध्यम से अध्यापक सीधे छात्रों के सम्पर्क में आते हैं। इस माध्यम का एक और लाभ यह भी है कि अगर छात्र कुछ बातें समझ नहीं पाते तो वे दोबारा अध्यापक से पूछ सकते हैं। इस माध्यम से छात्रों को सुनने और तुरंत लिखने का भी अभ्यास हो जाता है। व्याख्यान के माध्यम से समय की भी बचत हो जाती है। अच्छा व्याख्यान मेधावी छात्रों को अधिक मेहनत की तरफ अग्रसर करता है।

इस माध्यम की कुछ सीमाएं भी हैं। व्याख्यान विधि का बहुत अधिक इस्तेमाल करने वाले अध्यापक इसके इतने अधिक अभ्यस्त हो जाते हैं कि कुछ महत्त्वपूर्ण अनुभव बताने से छूट जाते हैं। अगर इस माध्यम से पढ़ने वाले छात्रों को बात करने या प्रश्न पूछने की सहूलियत नहीं मिले तो इस माध्यम का कोई लाभ नहीं मिलता है। इस माध्यम में छात्रों को पहले से तैयार पकी पकाई सामग्री दी जाती है और वे अपनी खुद की मेहनत नहीं कर पाते। यह माध्यम बहुत अधिक एकरूप सा हो जाता है। ऐसे अध्यापक अपवादस्वरूप ही मिलते हैं जो कि अपने व्याख्यान को रोचक बनाकर बच्चों को अतिरिक्त अध्ययन के लिए प्रेरित कर पाएं।

अवलोकन पद्धति

समाज विज्ञान में ही नहीं अपितु प्रत्येक अध्ययन में प्रत्यक्ष रूप से उस चीज के सम्पर्क में आने से होने वाला ज्ञान अधिक लम्बा एवं गहन होता है। छात्रों को किसी छोटी यात्रा या भ्रमण पर ले जाकर सभी स्थलों जैसे कोई स्मारक, कोई किला, या मंदिर दिखा कर उन्हें एकदम ताज़ा प्रत्यक्ष ज्ञान दिया जा सकता है। वे उनका सूक्ष्मता से अध्ययन कर सकते हैं। वे उसके बारे में प्रश्न करके अपनी जिज्ञासा भी शांत कर सकते हैं। इससे उन्हें और अध्ययन करने की प्रेरणा भी मिलती है। अवलोकन द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के लिए छात्र कुछ संस्थाओं जैसे टेलीफोन एक्सचेंज, अखबार का दफ्तर या तार का दफ्तर इत्यादि स्थान पर

जाकर प्रत्यक्ष ज्ञान अवलोकन द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। अवलोकन की कई एक प्रणालियां हैं जैसे किसी स्थान विशेष की छोटी यात्रा या भ्रमण इत्यादि हो सकता है। विशेष कर समाजशास्त्र एवं समाजिक मानवशास्त्र में यह पद्धति सर्वेक्षण करते हुए भी प्रयुक्त की जाती है। सामाजिक मानव-विज्ञान की विषयवस्तु जनजातीय समाज जिनकी कि संस्कृति, भाषा, वेश-भूषा इत्यादि समकालीन समाज से बहुत भिन्न होती है। इन समाजों के अध्ययन के लिए सहभागी अवलोकन बहुत सहायक होता है। इससे हम उस समाज का सही अध्ययन कर पाने में समर्थ होते हैं। सहभागी एवं असहभागी, अवलोकन पद्धति के ये दो महत्वपूर्ण प्रकार हैं। इसी तरह इस पद्धति की कुछ प्रणालियां भी होती हैं जैसे क्षेत्र, भ्रमण, समूह सर्वेक्षण, समूह सेवा परियोजनाएं। इस पद्धति की एक कमी है कि जब हम सहभागी अवलोकन द्वारा अध्ययन करते हैं, तब समूह की इकाइयों के व्यवहार में परिवर्तन आ जाने की संभावना होती है और उससे हमारा समस्त अध्ययन गलत हो जाता है।

बातचीत या प्रश्न उत्तर पद्धति

यह पद्धति प्रश्न एवं उत्तर के द्वारा संपन्न होती है। इसके अंतर्गत कक्षा में अध्यापक छात्रों से प्रश्न पूछते हैं, और उनका उत्तर भी देते हैं, इसी से पाठ पूर्ण किया जाता है। बीच में अध्यापक छात्रों के प्रश्नों की कमियों को बताकर उन्हें पूरा कर देता है। इससे समाजशास्त्र एवं समाज विज्ञानों का अध्ययन सरलीकृत होकर किया जा सकता है। इसमें संबंधित पाठ से सम्बद्ध सभी पहलुओं का अध्ययन किया जा सकता है।

नोट लिखवाने की पद्धति

कुछ अध्यापक पहले से तैयार किए हुए पाठ के नोट कक्षा में लिखवाते हैं। यह भी अध्यापन की एक पद्धति है, किन्तु ऐसा कुछ कारणों से किया जाता है जैसे—

क. उपयुक्त पाठ्यपुस्तक की कमी।

ख. काम की अधिकता।

ग. समय की कमी।

घ. बाह्य परीक्षाओं की वजह से—ताकि छात्र एकदम उपयुक्त उत्तर तैयार करें और ठीक से नम्बर ला पाएं।

ङ अभिव्यक्ति पक्ष का कमजोर होना।

उपरोक्त कारणों से कुछ अध्यापक छात्रों को नोट लिखवाते हैं। इसमें भी नोट लिखवाने के कई प्रकार हैं जैसे कुछ अध्यापक परीक्षा के लिए महत्वपूर्ण पाठों को पूरी तरह से लिखवा देते हैं। कभी-कभी कुछ महत्वपूर्ण प्रसंगों को भी अध्यापक छात्रों को लिखवा देते हैं। कुछ अध्यापक छात्रों को प्रश्न उत्तर के रूप में भी लिखवा देते हैं। इसमें अधिकांशतः वे प्रश्न होते हैं जिनकी परीक्षा में आने की संभावना होती है।

इस अध्यापन पद्धति की बहुत सी कमियां भी हैं। यह एक बीमारी की तरह है जो कि समाज विज्ञान के महत्वपूर्ण तत्वों को समाप्त कर देती है। इसमें छात्र बिना ठीक से समझे ही लिखे हुए को रट कर लिख देते हैं, जो कि ठीक नहीं है।

इस पद्धति से पढ़ने वालों छात्रों में संदर्भ पुस्तकों को पढ़ने की रुचि नहीं रहती। इससे वे विषय को गहनतम रूप में नहीं समझ सकते। इस पद्धति से पढ़ाए जाने पर शिक्षा के वास्तविक उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं हो पाती। इस पद्धति से पढ़ने पर छात्रों को सोचने और चुनने की क्षमता का विकास नहीं हो पाता। अध्यापकों को चाहिए कि वे छात्रों को अपने स्वयं के नोट तैयार करने के लिए प्रेरित करें।

विचार विमर्श पद्धति

यह समाज विज्ञान के अध्यापन की एक अच्छी पद्धति है। कहा जाता है कि किसी समस्या को सुलझाने के लिए एक के स्थान पर अनेक दिमाग लग जाएं तो सुझाव बहुत अच्छा निकलता है। इस पद्धति में एक समस्या या विषय पर पूरी कक्षा के छात्र अपने-अपने विचार व्यक्त करते हैं। इस पद्धति को इस्तेमाल करने के बहुत से कारण है।

1. नए कार्य की योजना बनाना।
2. भविष्य में किए जाने वाले कामों के लिए निर्णय लेना।
3. सूचनाओं का आदान-प्रदान।

4. विभिन्न लोगों के विचारों को जानना और उन्हें महत्व देना।
5. विचारों का स्पष्टीकरण।
6. रुचियों को बढ़ाने की प्रेरणा देना।
7. प्रगति का मूल्यांकन करना।

विचार विमर्श कई तरह से किया जा सकता है जैसे कक्षा में विचार विमर्श, वाद विवाद, परिसंवाद, खंड विचार विमर्श, एवं गोल मेज विचार विमर्श इत्यादि।

विचार विमर्श पद्धति छोटे और बड़े दोनों छात्रों के लिए लाभदायक है। इससे विचारों में सुस्पष्टता आती है। इससे छात्र अपने विचारों को निश्चित करते हैं और अवधारणाएं स्पष्ट होती हैं। विभिन्न परिप्रेक्ष्यों की भिन्नता को इस पद्धति द्वारा ठीक से समझा जा सकता है। विचार विमर्श से छात्र को यह भी पता चलता है कि उसे क्या नहीं मालूम है, किन चीजों को वह अनदेखा कर गया, और कहां उससे तथ्यों एवं पद्धतियों को समझने में गलती हो गई। विचार विमर्श द्वारा विपरीत विचारों को सहन करने की भावना आती है। स्व-मूल्यांकन की क्षमता का भी विकास होता है। साथ ही इस पद्धति द्वारा अध्यापक छात्रों की क्षमताओं के बारे में जान पाते हैं।

उपरोक्त पद्धतियों के अलावा कुछ और भी पद्धतियां हैं जिन्हें कि समाज विज्ञानों के अध्यापन के लिए इस्तेमाल किया जाता है। वे निम्नलिखित हैं :

नियत कार्य पद्धति। परियोजना पद्धति—यह अध्यापन पद्धति के अलावा एक मूल्यांकन पद्धति भी है। इसे *मूल्यांकन योजना में विस्तार से बताया गया है।* पाठन की पद्धति। स्रोत पद्धति उपरोक्त विभिन्न पद्धतियों से समाज विज्ञानों में अध्यापन कार्य होता है :

समाजशास्त्र की विषयवस्तु एवं क्षेत्र

सर्वप्रथम समाजशास्त्र के सम्पर्क में आने वाले छात्रों को इस स्तर पर किस तरह की और कितनी जानकारी पर्याप्त होगी इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए निम्नलिखित जानकारी विद्यार्थियों को कक्षा 11 एवं 12 में दी जा रही है। कक्षा 12 के समाजशास्त्र शिक्षण को विशेष रूप से भारतीय समाज के साथ जोड़कर देखने का प्रयास किया गया है।

समाजशास्त्र का उदय एवं विकास

इस भाग में बच्चों को कतिपय समाजशास्त्रियों के कार्यों से अवगत कराया गया है।

भारत में समाजशास्त्र

यहां भारतवर्ष में किस तरह समाजशास्त्र का विकास हुआ और किस तरह वह आज की स्थिति में पहुंचा यह दर्शाया गया है। इसे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया गया है।

समाजशास्त्र एक विज्ञान के रूप में एवं अन्य समाज विज्ञानों से इसका संबंध इसमें समाजशास्त्र की प्रकृति की विवेचना करते हुए यह सिद्ध किया कि यह किस तरह एक विज्ञान है।

सामाजिक सर्वेक्षण की पद्धतियां

अनुभवाश्रित ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन पद्धतियों का समावेश किया गया है।

आंकड़े एकत्रीकरण की तकनीक

अवलोकन, साक्षात्कार, सर्वेक्षण एवं वैयक्तिक अध्ययन का समावेश किया गया है।

मूलभूत अवधारणाएं

समुदाय, सामाजिक समूह एवं संघ इत्यादि के बारे में जानकारी दी गई है।

सामाजिक संरचना एवं स्तरीकरण

संरचना, व्यवस्था एवं प्रकार्य, जाति एवं वर्ग एवं संजातीयता की चर्चा है।

सामाजिक संस्थाएं

परिवार, विवाह एवं नातेदारी, धर्म, आर्थिक संस्थाएं, राज्य व्यवस्था एवं शैक्षिक संस्थाएं।

सामाजिक प्रक्रिया एवं परिवर्तन

सहयोग, समायोजन, सात्मीकरण, प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष, सामाजीकरण, सामाजिक नियंत्रण एवं सामाजिक परिवर्तन।

सामाजिक परिस्थितिकी एवं संस्कृति

ग्रामीण एवं नगरीय प्रथाएं एवं परम्पराएं, प्रतिमान एवं मूल्य।

एकता एवं विभिन्नता

सामाजिक एवं सांस्कृतिक एकता और विभिन्नता अनेकता या विभिन्नता के कारक—संजातीयता धर्म एवं भाषा।

भारतीय समाज का उदविकास

सामाजिक सांस्कृतिक आयाम, प्राचीन भारतीय समाज, इस्लाम का प्रभाव, पाश्चात्य समाज, समकालीन भारतीय समाज।

सामाजिक आन्दोलन

सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, सर्वेन्ट्स आफ इण्डियन सोसाइटी, मुस्लिम, सिक्ख एवं पारसियों में होने वाले सुधार आन्दोलन, स्वदेशी आन्दोलन, जनजातीय आन्दोलन, जाति, परिवार एवं विवाह के प्रभाव एवं भारतीय समाज में महिलाएं।

राष्ट्रीय आन्दोलन

समाजशास्त्रीय आशय, राष्ट्रवाद का प्रारंभिक स्तर, राजनीतिक जागरण, शिक्षा का प्रभाव एवं विभिन्न राजनैतिक दलों की भूमिका।

भारत में जनजातीय, ग्रामीण एवं नगरीय जीवन

ग्रामीण समुदाय ग्राम एक सामाजिक इकाई के रूप में, ग्रामीण समुदाय में परिवर्तन, नगरीय जीवन, कस्बों एवं शहरों की संरचना, भारत में नगरीकरण, नगरीय सामाजिक संरचना एवं स्तरीकरण। जनजातीय लोगों की समस्याएं।

जाति व्यवस्था

भारत में जाति व्यवस्था का विकास, जाति की परिभाषा वर्ण एवं वर्ग, जाति एक विचारधारा के रूप में जाति के सांस्कृतिक एवं संरचनात्मक पक्ष, जाति एवं वर्ण के संबंधों में परिवर्तन।

सामाजिक परिवर्तन

उदविकास, क्रांति, उन्नति, विकास, सामाजिक गतिविधियां, भारत में परिवर्तन की मुख्य प्रक्रियाएं— मूल्यांकनात्मक, सांस्कृतिक, पाश्चात्यकरण एवं संरचनात्मक उपागम, सामाजिक परिवर्तन के कारक—तकनीकी, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक।

समाज में सुविधाओं से वंचित वर्ग

अनुसूचित जातियां, सामाजिक एवं आर्थिक समस्याएं, सामाजिक गतिशीलता, छुआछूत, अनुसूचित जातियों के साथ भेद भाव एवं उनका शोषण। अनुसूचित जनजातियां, जनजातीय लोगों की समस्याएं, जनजातीय और गैर-जनजाति वालों के बीच अन्तःक्रिया, अन्य पिछड़े वर्ग, पिछड़ेपन के मापदंड, विभिन्न आयोग, पिछड़े वर्गों के आन्दोलन।

महिलाओं की प्रस्थिति

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, समानता की खोज, दहेज व्यवस्था—सामाजिक आयाम एवं समस्या का परिमाण (विस्तार)।

सामाजिक विचलन

अपराध, बाल अपराध, सुधारात्मक उपाय।

जनसंख्या की समस्या

भारत की जनसंख्या का संयोजन, सामाजिक आर्थिक समस्याएं, राष्ट्रीय जनसंख्या नीति एवं विकास।

राष्ट्रीय एकीकरण

चुनौतियां—साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीयता, भाषावाद, राजनैतिक समेकन, अल्पसंख्यक एवं राष्ट्रीय एकीकरण, राष्ट्रीय एकता के लिए प्रयत्न।

मूल्यांकन योजनाएं

समाज विज्ञान के विषयों के पाठ्यक्रम को बनाते समय इस बात को ध्यान में रखना होगा कि मूल्यांकन की दृष्टि से उसकी क्या उपादेयता है। हम पाठ्यक्रम एवं मूल्यांकन को अलग-अलग करके नहीं समझ सकते। अधिकांश विद्यार्थी मूल्यांकन को ध्यान में रखकर ही अपना अध्ययन करते हैं। मूल्यांकन द्वारा प्राप्त होने वाले अंकों की तरफ उनका ध्यान अधिक रहता है। ऐसी स्थिति में समस्त शिक्षाविदों की सोच इसी बात पर केन्द्रित रहती है कि मूल्यांकन विधि को किस तरह त्रुटिरहित बनाया जाए।

मूल्यांकन की प्रक्रिया निम्नलिखित पक्षों के आधार पर चलती है :

1. ज्ञान–शिक्षा का संभवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं आधारभूत उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करना है। ज्ञान का सामान्य अर्थ यह है कि विद्यार्थी उन तथ्यों, घटनाओं, सिद्धान्तों, विचारों आदि का पुनः स्मरण अथवा पहचान कर सकें, जिनको उसने अपनी शिक्षा प्रक्रिया के दौरान ग्रहण किया है। अन्य बौद्धिक क्षमताओं के विकास हेतु भी ज्ञान की आवश्यकता होती है। विद्यार्थी केवल विषयों का ही नहीं अपितु विषयेत्तर अध्ययन से भी ज्ञान की प्राप्ति करता है। अतः मूल्यांकन द्वारा हम विद्यार्थी द्वारा प्राप्त किए गए ज्ञान के स्तर को भी माप सकते हैं

शैक्षणिक उद्देश्य के रूप में ज्ञान को कुछ वर्गों में विभाजित किया जाता है जो कि निम्नलिखित हैं :

(1) विशिष्टों का ज्ञान।
(2) विशिष्टों के उपयोग की विधियों तथा संसाधनों का ज्ञान।
(3) किसी विषय क्षेत्र की अवधारणाओं का ज्ञान।

2. अवबोध या समझ–शिक्षा की प्रक्रिया में संभवतः विद्यार्थियों की क्षमताओं पर सर्वाधिक बल दिया जाता है जिनमें बोध अथवा समझ की आवश्यकता होती है, अर्थात् विद्यार्थी से यह अपेक्षा की जाती है कि वह किसी प्रस्तुति के तत्वों, तथ्यों आदि को समझकर उनका किसी समस्या में उपयोग कर सके अथवा अपनी अर्जित जानकारी के आधार पर प्रस्तुति के तत्वों, तथ्यों, घटनाओं आदि की व्याख्या कर सके। विद्यार्थी की दी गई प्रस्तुति मौखिक या लिखित शब्दों के प्रतीकों अथवा प्रतीकात्मक संबंधों के रूप में किसी आरेख, मानचित्र, कलाकृति उपकरणों अथवा परिस्थितियों की व्यवस्था, संगीतात्मक प्रस्तुति, पर्यटन में किए गए प्रेक्षणों एवं अनुभवों आदि के रूप में हो सकती है। प्रस्तुति में दी गई समस्या अथवा प्रश्न को हल करने के लिए यह आवश्यक होता है कि विद्यार्थी समस्या से संबंधित क्षेत्र की जानकारी से उसे संवद्ध कर सके तथा जानकारी का उचित उपयोग करके समस्या को हल कर सके। बोध स्तर की क्षमता को भी तीन भागों में विभाजित किया गया है :

1. अनुवाद।
2. व्याख्या।
3. बहिर्वेशन।

3. अनुप्रयोग–विद्यार्थी जो कुछ भी सीखता है उसकी सार्थकता तभी है जब वह उस जानकारी का प्रयोग वास्तविक जीवन की समस्याओं को हल करने में कर सके। इसी से शिक्षा के सामान्य पाठ्यक्रम में शैक्षणिक उद्देश्य के रूप में अनुप्रयोग का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। शिक्षण प्रक्रिया के प्रभावी होने की यह एक कसौटी है कि शिक्षार्थी अपनी जानकारी और उसके बोध का उपयोग ऐसी समस्याओं में जिनसे उसका सामना, शिक्षण-अधिगम काल में न हुआ हो, कहां तक कर सकता है। अनेक अन्वेषणों से ज्ञात होता है कि कोई व्यक्ति उसका अनुप्रयोग भी सही ढंग से कर सकेगा यह जरूरी नहीं है। अनुप्रयोग या प्रयुक्त स्तर के कौशल का उपयोग विशिष्ट समस्याओं के हल ढूंढ़ने में होता है। इसमें विद्यार्थी से तीन प्रकार के प्रश्न पूछे जा सकते हैं :

1. किसी काल्पनिक स्थिति पर आधारित प्रश्न।
2. ऐसी वास्तविक परिस्थिति पर आधारित प्रश्न जिनसे विद्यार्थी के परिचित होने की संभावना न हो।
3. परिस्थिति तो परिचित हो, परंतु प्रस्तुति अपरिचित ढंग से की गई हो।

उपरोक्त पक्षों के आधार पर मूल्यांकन की प्रक्रिया चलती रहती हैं। मुख्य रूप से मूल्यांकन के दो प्रकार देखने को मिलते हैं। पहला होता है सतत मूल्यांकन। सतत मूल्यांकन से आशय विद्यार्थी के कक्षा में समय-समय पर होने वाले मूल्यांकन से है। यह प्रत्येक स्कूल की अपनी अवस्था के आधार पर होता है। कहीं पर यह साप्ताहिक, कही मासिक, या त्रैमासिक रूप में होता है, लेकिन

अधिकांशतः विद्यार्थी सतत मूल्यांकन को अधिक महत्व नहीं देते, क्योंकि इन मूल्यांकनों में प्राप्त होने वाले अंकों का लाभ उन्हीं बोर्ड द्वारा होने वाले मूल्यांकन में नहीं मिलता है, जबकि सतत मूल्यांकन बहुत अधिक महत्वपूर्ण है, इसमें विद्यार्थी समय-समय पर जो भी पढ़ता है, उसे दोहराता है।

अधिकांश विद्यार्थी सत्र के अंत में होने वाले मूल्यांकन की तरफ ही अपना ध्यान आकर्षित करते हैं। इसका एक स्पष्ट कारण भी देखने को मिलता है, क्योंकि सत्र के अन्त में होने वाला मूल्यांकन उनके संबंधित बोर्ड द्वारा आयोजित किया जाता है और इन्हीं अंकों के आधार पर विद्यार्थी को अपनी अगली कक्षा अथवा महाविद्यालय (कालेज) में दाखिला मिलता है। आज अधिकांश शिक्षाविद इसे ठीक नहीं मानते क्योंकि इससे विद्यार्थी के वे गुण ठीक तरह से विकसित नहीं हो पाते जिन्हें हम एक शिक्षित व्यक्तित्व में देखना चाहते हैं। आज अधिकांश विद्वानों का यह मानना है कि बोर्ड द्वारा होने वाले मूल्यांकन में विद्यालय द्वारा सतत रूप से किए गए मूल्यांकन का भी कुछ सीमा तक समावेश होना चाहिए। इसी मूल्यांकन से विद्यार्थी के व्यक्तित्व का सर्वतोमुखी विकास संभव हो पाता है, जो कि वास्तव में शिक्षा का एक मूल उद्देश्य है। सतत मूल्यांकन एवं वार्षिक मूल्यांकन के अलावा मूल्यांकन की क्षमता के आधार पर भी इसे दो वर्गों में विभाजित किया जाता है। पहला मूल्यांकन आन्तरिक निकषों के आधार पर होता है। इसके अंतर्गत किसी प्रस्तुति का तार्किक शुद्धता, स्पष्टता, भाषा सौन्दर्य, व्याकरण की शुद्धता, विचारों के उपयुक्त क्रमायोजन आदि विभिन्न आन्तरिक निकषों के आधार पर विद्यार्थी का कौशल मापा जाता है। दूसरा होता है आन्तरिक निकषों के आधार पर मूल्यांकन। विभिन्न विषय क्षेत्रों में की गई प्रस्तुतियों के मूल्यांकन हेतु इस विषय क्षेत्र से संबंधित विशेष निकष होते हैं जो विषय क्षेत्र के सामान्यीकृत सिद्धान्तों, मान्यताओं एवं व्यावहारिक अनुभवों के आधार पर निर्धारित किए जाते हैं, अर्थात ये निकष प्रस्तुति में ही निहित न होकर, वाह्य रूप से निर्धारित होते हैं ऐसे निकषों की सहायता से किसी प्रस्तुति का मूल्यांकन इस वर्ग के अन्तर्गत आता है।

मूल्यांकन के प्रश्न

हमारे देश में बच्चों के विकास को मापने के लिए मुख्य रूप से लिखित परीक्षा का प्रावधान होता है। इसमें कुछ प्रश्न होते हैं जिनका उत्तर छात्र को देना पड़ता है। परीक्षाओं में आमतौर पर पूछे गए प्रश्न निम्नलिखित प्रकार के होते हैं :

1. आत्मनिष्ठ प्रश्न 2. वस्तुनिष्ठ प्रश्न 3. विषयात्मक प्रश्न

आत्मनिष्ठ प्रश्न तीन प्रकार के होते हैं :

अ. लम्बे उत्तर वाले—ऐसे प्रश्नों के उत्तर बहुत लम्बे, निबंध की तरह से लिखे जाने वाले होते हैं।

ब. छोटे उत्तर वाले प्रश्न—ऐसे प्रश्नों के उत्तर के लिए प्रश्न चयनकर्ता को कुछ सीमा देता है। उदाहरण के लिए—इस प्रश्न का उत्तर तीन लाइनों में अथवा 70-80 शब्दों में दीजिए।

स. बहुत छोटे उत्तर वाले प्रश्न—ऐसे प्रश्नों के उत्तर जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है बहुत छोटे होते हैं, जैसे कि उत्तर 20-30 शब्दों में या कभी-कभी एक शब्द या हां और ना के रूप में भी होते हैं।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न चार प्रकार के होते हैं—

क. सच या झूठ—इस तरह के प्रश्न में कोई वाक्य दिया जाता है जोकि सच भी हो सकता है और झूठ भी हो सकता है।

ख. मेल मिलाना—इस प्रकार के प्रश्नों में दो वर्ग होते हैं। पहले वर्ग में प्रश्न होते हैं दूसरे में उनके उत्तर होते हैं, प्रश्न को उसके सही उत्तर के साथ मिलाना पड़ता है।

ग. वाक्य पूरा करना—ऐसे प्रश्नों में किसी वाक्य को अधूरा लिख दिया जाता है। विद्यार्थी अपनी जानकारी के आधार पर वाक्य को पूरा करते हैं।

घ. बहु उत्तरीय प्रश्न—ऐसे प्रश्नों में एक प्रश्न के एक से अधिक उत्तर होते हैं। विद्यार्थी उन उत्तरों में से सर्वाधिक सत्य उत्तर को छांटता है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

(क) समाज सामाजिक संबंधों का जाल है। — सच या झूठ।

(ख) सही मेल मिलाएं।

अ	ब
1. आत्महत्या का सिद्धांत	कार्ल मार्क्स
2. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद	एमील दुर्खीम
3. नौकरशाही	आगबर्न निमकाफ
4. सांस्कृतिक पिछड़ का सिद्धांत	मैक्स वैबर

(ग) वाक्य को पूरा कीजिए—

समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधानों का.............है।

(घ) समाजशास्त्र के जनक थे—
अ. अगस्त कोंत ब. हरबर्ट स्पेंसर
स. एमील दुर्खीम द. मैक्स वैबर

इस प्रकार वस्तुपरक या वस्तुनिष्ठ प्रश्नों का निर्माण किया जाता है। उपरोक्त तरीकों के अलावा विशेष तौर पर समाजशास्त्र में परियोजना कार्य के द्वारा भी मूल्यांकन किया जाता है, जिसमें कि छात्र का सर्वांगीण मूल्यांकन किया जा सकता है :

विषयात्मक प्रश्न—विषय विशेष से सम्बद्ध लंबे-लंबे लेख के रूप में लिखे गए प्रश्न इस श्रेणी में आते हैं।

परियोजना कार्य

परियोजना कार्य कतिपय क्रमवार नियमों के आधार पर किया जा सकता है। समाजशास्त्रीय परियोजना कार्य में सर्वप्रथम एक समस्या या विषय या चुनाव किया जाता है। तत्पश्चात उससे सम्बद्ध उपकल्पनाओं का चयन किया जाता है। ये उपकल्पनाएं (hypothesis) एक या एक से अधिक भी हो सकती हैं। अगले क्रम में उस समग्र का चुनाव किया जाता है जिसका कि अध्ययन करना है। अगर समग्र का आकार बड़ा है तो उसमें रहने वाली इकाइयों के समता या विषमता के आधार पर निदर्शन पद्धति के आधार पर एक छोटे समग्र का चयन किया जाता है। इसके पश्चात उन प्रश्नों को तैयार किया जाता है जो कि इकाइयों से पूछे जाने हैं। प्रश्नों की सूची को हम प्रश्नावली कहेंगे। अगर हमारे समग्र की सभी इकाइयां शिक्षित हैं और एक बड़े क्षेत्र में फैली हैं तो हम प्रश्नावली का प्रयोग कर सकते हैं। प्रश्नावली में प्रश्नों की सूची डाक द्वारा भेजी जाती है। हम इन प्रश्नों को अनुसूची कहेंगे अगर हमारे समग्र की इकाइयां पूर्णतः साक्षर नहीं हैं। अनुसूची पद्धति में साक्षात्कार द्वारा प्रश्नों के उत्तर उत्तरदाता से अनुसंधानकर्ता द्वारा पूछे जाते हैं। अनुसूची से अध्ययन का यह भी लाभ है कि साक्षात्कारकर्ता अवलोकन विधि द्वारा यह भी देखने का प्रयास करता है कि उत्तरदाता सच बोल रहा है या झूठ।

इसके अगले चरण में समस्त भरी हुई प्रश्नावलियों या अनुसूचियों के प्रश्नों को सारणी के लिए तैयार किया जाता है। सारणी का यह लाभ है कि सभी उत्तरदाताओं के उत्तर हमें सारणी देखकर तुरन्त समझ में आ जाते हैं। इस प्रकार जो सामग्री हमें मिलती है उन्हें आंकड़े कहते हैं। आंकड़े प्राप्त करने के भी दो स्रोत हैं। पहला प्राथमिक स्रोत इसमें हम स्वयं उत्तरदाता से पूछकर आंकड़े एकत्र करते हैं। दूसरा है द्वितीयक स्रोत इसमें आंकड़े एकत्र करने के लिए डायरी, पत्र, पुस्तकें, आत्मकथा, समाचारपत्र इत्यादि का प्रयोग किया जाता है। इन आंकड़ों या सारणियों के आधार पर परियोजनाकर्ता को एक रिपोर्ट या प्रतिवेदन प्रस्तुत करना पड़ता है। प्रतिवेदन के परिणाम आपकी परिकल्पना को सच भी साबित कर सकते हैं और झूठ भी।

समाजशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए इस प्रकार के परियोजना कार्य का बहुत महत्व है, क्योंकि समाजशास्त्र के विद्यार्थी की सच्ची प्रयोगशाला समाज ही होता है, और जब तक विद्यार्थी समाज में कार्य करना न सीख ले तब तक वह सच्चे अर्थों में समाजशास्त्र का विद्यार्थी नहीं बन पाता। इसी के द्वारा वह समाजशास्त्रीय अनुसंधान की समस्त पद्धतियों एवं प्रणालियों का स्वयं प्रयोग कर पाने में भी समर्थ हो पाता है। अतः बारहवीं कक्षा के विद्यार्थियों के लिए बहुत जरूरी है कि वे परियोजना कार्य भी करें। परियोजना के मूल्यांकन के लिए छात्र द्वारा लिखी गई रिपोर्ट और मौखिक परीक्षाओं के द्वारा मूल्यांकन होता है। समाजशास्त्र के पाठ्यक्रम में सैद्धान्तिक रूप से परियोजना कार्य का प्रावधान है लेकिन व्यावहारिक रूप से अभी छात्र परियोजना कार्य का उपयोग नहीं कर रहे हैं। एन.सी.ई.आर.टी. ने भी सतत मूल्यांकन की सिफारिश की है और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में इस बात की सिफारिश की है कि मूल्यांकन वर्ष में एक दो बार न होकर व्यापक एवं सतत होना चाहिए ताकि विद्यार्थी मूल्यांकन से होने वाले लाभ को पूर्णतः ग्रहण कर सकें। □□

प्रवाचक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली

ग्रेड प्रणाली–परीक्षा सुधार का एक कदम

❑ सरला राजपूत

परीक्षा प्रणाली के सुधारों को क्रियान्वित करने के सतत प्रयास होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि हमारी परीक्षा पद्धति दोषविहीन होकर सुचारू रूप से चल रही है। न ही यह कहा जा सकता है कि वर्तमान परीक्षा पद्धति द्वारा विद्यार्थियों की उपलब्धियों एवं क्षमताओं का सही ढंग से आकलन हो रहा है। इस व्यवस्था के विकल्प के रूप में ग्रेड प्रणाली को लागू करने का निर्णय विशेष चर्चा में है। इसके अन्तर्गत विद्यार्थी को श्रेणीबद्ध एवं सोपानबद्ध कर उसकी उपलब्धि के माप को चिन्हित किया जाता है। स्पष्टतः विद्यार्थियों को उच्च ग्रेड प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है तथा निम्न ग्रेड पाने वाले को विकल्प चयन का अवसर मिलता है।

संदर्भ

देश के समक्ष अनेक चुनौतियां हैं। सबके लिऐ उत्तम शिक्षा की व्यवस्था उनमें से एक महत्वपूर्ण चुनौती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात शिक्षा के विभिन्न आयामों में तरह-तरह के सुधारों के सुझाव आऐ हैं। इन आयामों में से परीक्षा प्रणाली ने सबसे अधिक आकर्षित किया है। आज शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ शिक्षा की गुणवत्ता पर भी विशेष बल दिया जाने लगा है। इन परिस्थितियों में परीक्षा एवं मूल्यांकन का महत्व और भी बढ़ गया है। परीक्षा में अंकों एवं पास फेल व्यवस्था ने विकराल रूप धारण कर लिया है। जिसका प्रभाव विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने लगा है और वे आत्महत्या करने तथा घर छोड़ने की स्थिति की ओर बढ़ रहे हैं। दूसरी तरफ अंकों को रोजगार एवं उच्च शिक्षा के प्रवेश से भी जोड़ा जाता है, जिससे अभिभावकों की अपेक्षाओं का स्तर बहुत बढ़ जाता है। इससे विद्यार्थियों को दोहरी मार सहनी पड़ती है। इस प्रकार अंक व्यवस्था गले की हड्डी बन कर रह गई है। पिछले दशकों में परीक्षा प्रणाली के सुधारों को कार्यक्रम रूप में क्रियान्वित करने के प्रयास तो किए गए हैं फिर भी आज यह कहने की स्थिति नहीं है कि परीक्षा पद्धति दोषविहीन हो गई है और सुचारू रूप से चल रही है और न ही इसकी वजह से यह कह सकते हैं कि विद्यार्थियों की उपलब्धियों एवं क्षमताओं का आकलन सही ढंग से हो रहा है और शिक्षा की गुणवत्ता में उत्तरोतर सुधार हो रहा है।

परीक्षा सुधार के अंतर्गत कई पहलू लिए गए हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1986 ने इन पर समग्र रूप से प्रकाश डाला तथा परीक्षा सुधार को शिक्षा का एक महत्वपूर्ण आयाम स्वीकार कर रेखांकित किया कि परीक्षा में व्यक्तिनिष्ठता कम की जाए, विद्यालयीन आधारित मूल्यांकन पद्धति को बढ़ावा दिया जाए तथा अंकों के स्थान पर ग्रेड का उपयोग किया जाए। इन तथ्यों की पुष्टि एवं पुनरावृत्ति प्रोग्राम ऑफ एक्शन में की गई। तत्पश्चात इस शिक्षा नीति के क्रियान्वयन में अनेक स्तर पर गोष्ठियां एवं सेमिनार हुए। ये सभी बिंदु किसी न किसी स्तर पर गोष्ठियों की चर्चा का विषय बने। लेकिन बहुत सारे बिंदु केवल चर्चा का विषय बन कर ही रह गए। क्रियान्वयन के समय क्रियान्वित करने वाली एजेंसियां एवं संस्थायें पूर्णरूपेण सफल नहीं हो सकीं। इन बिंदुओं में एक प्रमुख

बिन्दु अंक के स्थान पर ग्रेड प्रणाली को लागू करने का भी था। कई गोष्ठियों एवं सेमिनारों का यह प्रतिवेदन रहा कि शीघ्रताशीघ्र बोर्ड परीक्षा के परिणाम घोषित करने में इसका प्रयोग हो परंतु यह सम्भव न हो सका। यद्यपि राज्यों के विद्यालयीन शिक्षा मंडलों में नीतिगत आधार पर मतैक्य था कि परीक्षा परिणाम घोषित करने के लिए अंकों के स्थान पर ग्रेडिंग प्रणाली का उपयोग करके विद्यार्थियों को ग्रेड प्रदान किए जाएं। इस मतैक्य को ध्यान में रख कर ही केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा मंडल (सी.बी.एस.सी.) ने दो बार ग्रेडिंग प्रणाली को लागू करने का निर्णय भी लिया। प्रथम 1977 में तथा बाद में 2000 में। दूसरा प्रयास तो कुछ माह पूर्व ही उद्घोषित किया गया लेकिन जनमत के विरोध के मद्देनजर निर्णय को पुनः स्थगित करना पड़ा। आश्चर्यजनक बात यह है कि 1977 में तो विश्वविद्यालयों ने भी इसका विरोध किया था।

इन विरोधों के पीछे अनेक कारणों में से एक कारण लोगों में ग्रेडिंग प्रणाली के संबंध में अनेक भ्रांतियों से संबंधित है। इनमें से कई सारी भ्रांतियां तो संभवतः जानकारी के अभाव के कारण हैं। प्रस्तुत लेख इन भ्रांतियों को दूर करने के लिए ग्रेडिंग से संबंधित जानकारी प्रस्तुत करने का एक प्रयास है।

परीक्षण का उद्देश्य

परीक्षा सुधारों की आवश्यकता परीक्षा प्रणाली में उभरते दोषों के कारण हुई। अतः यह जानना आवश्यक होगा कि परीक्षा प्रणाली का प्रारंभ किन उद्देश्यों को लेकर हुआ तथा कहां तक परीक्षा प्रणाली उन उद्देश्यों को पूरा कर सकी तथा बीच में कौन-कौन सी कमजोरियां इसके क्रियान्वयन में विकसित हुई तथा किन परिस्थितियों ने परीक्षा सुधारों के बारे में चिंतन करने एवं क्रियान्वित करने के लिए प्रेरित किया।

परीक्षण का उद्देश्य मुख्य रूप से विद्यार्थियों के अधिगम स्तर की जांच/परख करना है। इससे यह भी पता चलता है कि जिन उद्देश्यों को ध्यान में रख कर शिक्षण अधिगम की व्यवस्था की गई है वे प्राप्त हुए हैं या नहीं यदि हुए हैं तो किस स्तर तक।

इसके अतिरिक्त परीक्षण का उद्देश्य यह भी जानना है कि विद्यार्थी अपने वर्ग के परिप्रेक्ष्य में किस सोपान पर है अथवा वह किस श्रेणी में है। यद्यपि उसकी श्रेणी का अंतर कभी कभी। अंक ही प्रभावित करता है।

इसका एक और उद्देश्य विद्यार्थियों के मध्य के अंतर की जानकारी प्राप्त करने का है। यद्यपि यह अंतर की जानकारी मनोविज्ञान का विषय है फिर भी परीक्षण के संदर्भ में यह अंतर बहुत अर्थ रखता है और कई निर्णय लेने में सहायता देता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हर व्यक्ति की अपनी विशेषताएं होती हैं और ये विशेषताएं ही उसे दूसरे व्यक्ति से पृथक करती हैं। मूल्यांकन/परीक्षण के द्वारा इन विशेषताओं का अंतर स्पष्ट रूप से पता चलना चाहिए।

विद्यार्थियों का किसी कोर्स के लिए प्रवेश, व्यवसाय इत्यादि के चयन के लिए, उसकी भावी क्षमताओं का पूर्वाभ्यास देने के लिए तथा उनकी क्षमताओं एवं उपलब्धियों को प्रमाणित करने का उद्देश्य भी परीक्षण द्वारा पूर्ण होता है।

परीक्षा प्रणाली इन उद्देश्यों को लेकर प्रारंभ हुई परंतु इसके क्रियान्वयन के दौरान अनेक कमजोरियां विकसित होती गई जिन्होंने आज एक भयावह रूप धारण कर लिया जिससे परीक्षा के उद्देश्य ही बदलते दिखाई देने लगे।

परीक्षा प्रणाली की कमजोरियां

आज की परीक्षा सम्भवतः इस उद्देश्य को पूरा करने में लग गई है कि कितने बच्चे पास होते हैं तथा कितने फेल। इस संदर्भ में यह प्रणाली एक विवाद का विषय बन कर रह गई है। इसके परिणाम घातक स्तर तक पहुंच गए हैं। जो बच्चे फेल होते हैं जिनकी संख्या लगभग 50 प्रतिशत तक है उनके लिए फेल होना जीने मरने का प्रश्न बन जाता है। पास होने के निर्धारित 33 अंक की मान्यता का कोई ठोस आधार नहीं है फिर भी इसे ब्रह्म वाक्य की तरह स्वीकार कर लिया गया है। यहां यह विचारणीय है कि 32 अंक पाने वाला 33 अंक पाने वाले से निम्न स्तर का है यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता फिर भी विद्यार्थी को 1 अंक के अंतर की निरंकुशता का शिकार होना पड़ता है और यह 1 अंक उसे व्यवस्था से बाहर निकाल देने के लिए पर्याप्त होता है।

इसी तरह जो श्रेणी विभाजन तथा श्रेष्ठता के प्रमाण दिए जाते हैं उसमें भी 60 अंक वाला विद्यार्थी प्रथम श्रेणी प्राप्त करता है तथा 59 अंक वाला द्वितीय। परन्तु यहां पर भी निश्चित नहीं है कि दोनों में कोई विशेष अंतर है ही। साथ ही इन विद्यार्थियों के व्यक्तिगत सामाजिक गुण, रुचि, दृष्टिकोण, मूल्य इत्यादि का तो परीक्षण होता ही नहीं जिससे व्यक्तित्व का आधा भाग बिना आकलन के ही रह जाता है।

परीक्षा प्रणाली की एक और कमजोरी परीक्षा के उपकरणों से संबंधित है। परीक्षा में लिखित परीक्षा पर ही जोर दिया जाता है अन्य प्रविधियों की अवहेलना होती है। फलतः परीक्षण वैध एवं विश्वसनीय नहीं हो पाता। कई बार परीक्षा उपकरण भी कमियों से ग्रस्त होते हैं।

परीक्षा पुस्तिका की जांच करने का तरीका भी त्रुटि-विहीन नहीं होता। भिन्न-भिन्न विषयों में अंकों का फैलाव भी भिन्न होता है।

विद्यार्थियों में अंतर करने की प्रक्रिया भी अपरिष्कृत मूल अंकों पर ही आधारित होती है जबकि अपरिष्कृत मूल अंक विद्यार्थी की वास्तविक क्षमता का सही प्रतिनिधित्व नहीं करते। फिर भी परीक्षा प्रणाली अंकों को ही महत्व देती है और उसी पर पास फेल की व्यवस्था आधारित है।

उपरिवर्णित कमियां अंक प्रणाली की अपर्याप्ता को दर्शाती हैं। इसके अतिरिक्त अंक प्रणाली का विश्लेषण इस तथ्य पर भी प्रकाश डालता है कि इसमें पद्धति जनित कमियां हैं। एक मुख्य कमी तो उस पैमाने से संबंधित है जिसका उपयोग इस प्रणाली के क्रियान्वयन में हो रहा है। इस पैमाने की कमी यह है कि यह 0-100 तक फैला है जिसमें वास्तविक 0 तथा वास्तविक 100 दोनों ही उपस्थित नहीं हैं। 0 जो बनावटी रूप से तय किया गया है और जिसे विद्यार्थी के बिलकुल भी अधिगम न होने का परिचय देना चाहिए पर नहीं देता क्योंकि विद्यार्थी कुछ न कुछ विषय वस्तु तो जानता ही है और 100 भी उसकी उपलब्धि की समग्रता को नहीं दर्शाता। इस प्रकार ये अंक विद्यार्थी की भिन्न विषयों में उपलब्धि स्तर को सही अर्थों में इंगित करने में सक्षम नहीं है। इसका कारण यह है कि भिन्न विषयों में अंकों का फैलाव भिन्न होता है, दूसरे, इन अंकों के प्रयोग में सबसे बड़ी बुराई अंकों में व्यक्तिनिष्ठता का आ जाना है जो प्राप्तांकों को और दूषित कर देती है। मान लीजिए किसी विषय में एक विद्यार्थी के 50 अंक हैं तथा स्टैंडर्ड एरर ऑफ मेजरमेन्ट 10 भी मानें तो उसका सही प्राप्तांक 40 अथवा 60 के बीच कहीं भी हो सकता है। इस अंतर को देखते हुए विद्यार्थियों की उपलब्धि को एक अंक के माध्यम से दर्शाया जाना न्यायोचित नहीं होता।

ग्रेड प्रणाली की उपयोगिता

अंक प्रणाली की अपर्याप्ता को दूर करने के लिए ग्रेड प्रणाली को परीक्षा प्रणाली में सम्मिलित करने का विचार किया गया। वास्तव में ग्रेड प्रणाली को अंक प्रणाली के स्थान पर लाने का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों के प्राप्तांकों का विश्लेषण सही अर्थों में करना तथा विद्यार्थियों का सही वर्गीकरण करना है। इस प्रणाली के अंतर्गत विद्यार्थियों को उनकी उपलब्धि के आधार पर भिन्न-भिन्न वर्गों (बैन्डस) में रखा जाता है। प्रत्येक वर्ग को एक अक्षर से दर्शाया जाता है जिसे ग्रेड की संज्ञा दी जाती है। यहां पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि ग्रेड प्रणाली भी कमियों से पूरी तरह मुक्त नहीं है। व्यक्ति की प्रकृति को तथा उसकी जटिलता को अंकीय स्केल पर सूक्ष्मता से नापना आसान नहीं है। अतः ग्रेड प्रणाली को प्रयोग करके देखा जा सकता है क्योंकि इस पद्धति की भी कमियों की चर्चा तो की जा सकती है परंतु कोई सशक्त विकल्प नहीं सुझाया जा सकता।

ग्रेडिंग के पक्ष में कुछ बातों पर ध्यान आवश्यक है। पहला, इसमें विद्यार्थियों का वर्गीकरण अपने समूह में अच्छी तरह हो पाता है। दूसरा, वर्गीकरण अंक के आधार पर न होकर क्षमता के आधार पर होता है जिससे विद्यार्थी को सही उपलब्धि स्तर की रैंज प्राप्त होती है। तीसरा, संभवतः इसीलिए कई समितियों एवं आयोगों ने इस प्रणाली की सराहना एवं अनुशंसा की। चौथा, देश की कई उच्चस्तरीय शिक्षा संस्थायें इस प्रणाली को लागू करके सफलतापूर्वक मूल्यांकन कर रही हैं। पांचवे, अनेक विकासशील एवं विकसित देश अपनी शिक्षा व्यवस्था में इसे क्रियान्वित करके विद्यार्थियों का मूल्यांकन करते हैं।

यदि ग्रेडिंग प्रणाली लागू कर दी जाए तो पास फेल व्यवस्था स्वतः समाप्त हो जाएगी। इससे विद्यार्थी वर्ग 33 प्रतिशत अंक की निरंकुशता से मुक्त होगा। किसी विद्यार्थी के माथे पर फेल का ठप्पा कलंक की तरह लग कर जीवन पर्यन्त के लिए अभिशप्त नहीं करेगा। सामाजिक व्यवस्था में एक कुरीति के रूप में शिक्षा की दुकानों का खुलना, जिससे शिक्षा दान जैसे पवित्र कार्य का वाणिज्यीकरण हो रहा है कम होगा क्योंकि इसका श्रेय भी अंक व्यवस्था को ही है। इस अंक व्यवस्था में विद्यार्थी ही दंडित होता है। शिक्षक जो ठीक से नहीं पढ़ाते एवं मूल्यांकन ठीक से नहीं करते उनके ऊपर कोई उंगली नहीं उठाता। ग्रेड प्रणाली संभवतः इस स्थिति में सुधार ला सकती है। यह फेल की व्यवस्था को समाप्त करके राष्ट्रीय मानव संसाधन का संरक्षण करने में भी सहायक हो सकती है।

ग्रेड व्यवस्था को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए आवश्यक है कि अध्यापकों, प्रधानाचार्यों, शिक्षा मंडलों के विभिन्न अधिकारियों, शिक्षा विभाग के अधिकारियों को इस जानकारी से अवगत कराया जाए कि ग्रेडिंग व्यवस्था क्या है? इसके काम क्या हैं, इसकी क्या पद्धतियां हैं? इसको कैसे क्रियान्वित किया जा सकता है? इसके निहितार्थ क्या है? तभी नीतिगत स्तर पर विश्वास एवं निष्ठा के साथ निर्णय लिया जा सकता है और इसे क्रियान्वित करने एवं कराने में सफलता प्राप्त हो सकती है।

ग्रेडिंग की धारणा

ग्रेड शब्द लैटिन शब्द ग्रेडस से बना जिसका अर्थ है सोपान। इस प्रक्रिया में वास्तव में विद्यार्थियों को श्रेणीबद्ध एवं सोपानबद्ध किया जाता है तथा विद्यार्थियों की उपलब्धि के माप को दर्शाया जाता है। माप को दर्शाने के लिए चिन्हों का प्रयोग किया जाता है जिन्हें अध्यापक, अभिभावक, विद्यार्थी तथा सभी संबंधित लोग समझ सकें। अतः प्रत्येक ग्रेडिंग चिन्ह का अर्थ अच्छी तरह समझना बहुत आवश्यक है।

ग्रेडिंग करने के तरीके

ग्रेडिंग करने के कई तरीके हो सकते हैं। तरीकों का वर्गीकरण संदर्भ बिन्दु के आधार पर हो सकता है। जब संदर्भ बिंदु 'उपागम' (एप्रोच) होगा तो ग्रेडिंग को प्रत्यक्ष (डायरेक्ट) ग्रेडिंग एव परोक्ष (इनडायरेक्ट) ग्रेडिंग में वर्गीकृत किया जाएगा लेकिन यदि संदर्भ बिन्दु 'निर्णय के मानदंड' (स्टैंडर्ड ऑफ जजमेन्ट) पर आधारित है तो इसे निरपेक्ष (एब्सोल्यूट) ग्रेडिंग और सापेक्ष (रिलेटिव) ग्रेडिंग में विभाजित किया जा सकता है।

प्रत्यक्ष ग्रेडिंग का अर्थ यह है कि अध्यापक अपने अनुभव एवं धारणा के आधार पर विद्यार्थी की दक्षता का मूल्यांकन करके सीधे-सीधे ग्रेड दे देता है। यद्यपि यह पद्धति पाठ्यक्रम संबंधित एवं पाठ्येतर विषयों से संबंधित मूल्यांकन दोनों पर लागू हो सकती है फिर भी पाठ्येतर (नान-कागनिटिव) अधिगम परिणामों को जानने के लिए अधिक उपयोगी साबित हो सकती है। इन्हें ग्रेड में दर्शाने के लिए अक्षर ग्रेड यानि ए, बी, सी, डी, ई का उपयोग किया जा सकता है जो कि उपलब्धि का स्तर और उसकी गुणवत्ता दर्शा सकते हैं।

जहां तक परोक्ष ग्रेडिंग का सम्बन्ध है इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम विद्यार्थियों की क्षमता का मूल्यांकन अंकों में किया जाता है तत्पश्चात अंकों को अक्षर ग्रेड में परिवर्तित किया जाता है। अंकों को ग्रेड में परिवर्तित करने के लिए कई तरीके हो सकते हैं जिनमें दो प्रमुख हैं एब्सोल्यूट एवं रिलेटिव ग्रेडिंग।

एब्सोल्यूट ग्रेडिंग के लिए पूर्व निर्धारित श्रेणियों का प्रयोग किया जाता है। विद्यार्थियों के उपलब्धि स्तर का आकलन कर उसे उक्त श्रेणियों में निर्धारित करना होता है। तत्पश्चात अंकों को ग्रेड में परिवर्तित किया जाता है भले ही किसी भी विषय में अंकों का विस्तार कुछ भी क्यों न हो। यह मात्र श्रेणीबद्ध करने का एक तरीका है। उदाहरण के लिए यदि 9 श्रेणी हैं तो अक्षर ग्रेड ए से लेकर आई तक होंगे। जिनके अक्षर मूल्य 9 से 10 तक होंगे उदाहरण के लिए ए-9, बी-8, सी-7, डी-6, ई-5, एफ-4, जी-3, एच-2 और आई-1। उनकी अंकों की रैन्ज 90 प्रतिशत ऊपर से लेकर 20 प्रतिशत नीचे तक हो सकती है तथा वर्णनात्मक स्वरूप में अतिविशिष्ट से लेकर असंतोषप्रद तक जा सकती है। इन सबके बीच में 10

प्रतिशत का अंतर रखा जाता है। यह 9 प्वाइंट ग्रेड स्केल है। इसमें योग्यता रैन्ज 9 इकाइयों में बांटी जाती है।

इसके अतिरिक्त ग्रेडिंग का एक और तरीका भी है जिसे सापेक्ष (रिलेटिव) ग्रेडिंग कहते हैं। इसे वक्र पर ग्रेडिंग (ग्रेडिंग ऑन कर्व) के नाम से भी जाना जाता है। इसके लिए प्रसामान्य विचलन वक्र की अवधारणा का प्रयोग किया जाता है। इस पद्धति में पहले ही तय कर लिया जाता है कि कितने बच्चे किस ग्रेड के अंतर्गत आयेंगे और उनकी क्या श्रेणी बनेगी। इसीलिए इस ग्रेडिंग को मापदण्ड आधारित (नार्म-रेफरेन्जड ग्रेडिंग) भी कहते हैं। इस पद्धति में विद्यार्थियों की उपलब्धि की समान विषयों में तथा भिन्न-भिन्न विषयों में भी तुलना की जा सकती है। विद्यार्थियों की समूची (ओवर ऑल) तुलना करने के लिए विभिन्न विषयों के ग्रेडों को जोड़ कर ग्रेड प्वाइंट एवरेज निकाला जा सकता है। इसको निकालने का तरीका निम्न तालिका में दर्शाया गया है।

ग्रेडिंग संबंधित कुछ विशेष तथ्य

यहां पर ग्रेडिंग के विषय में कुछ विशेष बातों की चर्चा आवश्यक है। पाठ्येत्तर विषयों जैसे व्यक्तिगत सामाजिक गुण, रुचियां, मूल्य, दृष्टिकोण आदि के लिए प्रत्यक्ष ग्रेडिंग पद्धति उपयुक्त मानी जाती है। इसी प्रकार प्राथमिक स्तर पर दो या तीन प्वाइंट स्केल का उपयोग ही उचित माना जाता है क्योंकि बच्चों का व्यवहार अभी भी विकासशील होता है। अतः इसके लिए सूक्ष्म विभेदक ग्रेडों का प्रयोग उचित नहीं है। जैसे-जैसे कक्षा का स्तर बढ़ता जाता है ग्रेडिंग स्केल भी 5,7,9 प्वाइंट के प्रयुक्त हो सकते हैं। यह तो रही विद्यालयों में ग्रेडिंग के उपयोग की बात परंतु बोर्ड परीक्षा में प्रत्यक्ष ग्रेडिंग संभव नहीं हो सकती। अतः बोर्ड परीक्षा में अप्रत्यक्ष ग्रेडिंग का प्रयोग ही उचित होगा वह भी रिलेटिव ग्रेडिंग तथा ग्रेडिंग ऑन द कर्व। साथ ही 9 प्वाइंट ग्रेड स्केल को बोर्ड के स्तर पर स्वीकार करने की अनुशंसा भी है।

विद्यार्थी	भिन्न विषयों में ग्रेड (9-प्वाइंट स्केल)					ग्रेड प्वाइंट एवरेज
	अंग्रेजी	गणित	भौतिक विज्ञान	रसायन विज्ञान	जीव विज्ञान	
अ	सी	बी	ए	डी	बी	7.6
ब	ए	सी	बी	डी	ए	7.8

अ को मिले ग्रेड के अंक

$$\frac{7+8+9+6+8}{5} = \frac{38}{5} = 7.6$$

ब को मिले ग्रेड के अंक

$$\frac{9+7+8+6+9}{5} = \frac{39}{5} = 7.8$$

उपरवर्णित अंक यह दर्शाते हैं कि 'ब' विद्यार्थी का ग्रेड प्वाईंट एवरेज 'अ' से बेहतर है।

ग्रेडिंग को सुचारू रूप से प्रयुक्त किए जाने के लिए आवश्यक है कि कुछ शर्तो का पालन किया जाए। ये शर्तें मूल्यांकन की सभी बारीकियों को ध्यान में रखने की हैं। उदाहरण के लिए मूल्यांकन के उपकरण वैध एवं विश्वसनीय हों, उत्तर पुस्तिका सही ढंग से जंचें, परीक्षाएं बिना किसी गलत तरीके को अपनाए हुए हों, तभी ग्रेडिंग व्यवस्था उत्तम एवं सफल हो सकती है। साथ ही अध्यापक नियमित रूप से अध्यापन करे तथा विद्यार्थी अध्ययन में पूरी रुचि लें और पाठ्यक्रम के आधार पर सम्पूर्ण विषयवस्तु का अध्ययन करें।

अंत में एक बात निश्चित तौर पर यह कही जा सकती है कि ग्रेड प्रणाली परीक्षा संबंधी सभी बुराईयों को दूर करने का साधन नहीं है। दूसरे यह व्यवस्था भी संदेह से परे नहीं है फिर भी अंक व्यवस्था से निश्चय ही बेहतर है तथा इससे न तो प्रतिभाशाली विद्यार्थियों की प्रतियोगिता की भावना को ठेस पहुंचती है न ही निम्न ग्रेड के विद्यार्थियों का आगे बढ़ने का रास्ता बंद होता है। इसके विपरीत प्रतिभावान विद्यार्थियों को सबसे ऊपर का ग्रेड प्राप्त करने का प्रोत्साहन मिलता है तथा निम्न ग्रेड पाने वालों को विकल्प चयन करने का अवसर मिलता है। इस प्रणाली को निसंकोच प्रयोग में लाकर अनुभव प्राप्त करना सार्थक होगा। डेढ़ सौ वर्ष पुरानी अंक व्यवस्था को बदलना एक प्रगति उन्मुख समाज की संरचना में महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है। निश्चय ही शिक्षण संस्थाओं, शिक्षा मंडलों एवं सरकार के स्तर पर निर्णय लेने एवं क्रियान्वित करने के लिए एक तैयारी की आवश्यकता है। वह प्रयास आरंभ हो गया है। आशा है निकट भविष्य में ग्रेडिंग व्यवस्था परीक्षा प्रणाली का अभिन्न अंग बनेगी। ☐☐

आचार्य
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली

राष्ट्रीय, भारतीय और आध्यात्मिक शिक्षा प्रणाली

❑ राजेन्द्र कश्यप

सामाजिक और नैतिक मूल्यों के पतन की पराकाष्ठा के लिए निश्चित रूप से हमारी शिक्षा प्रणाली भी उत्तरदायी है। यह ज्ञान और सूचना तो प्रदान करती है लेकिन विवेक जाग्रत नहीं करती। यह योग्य डाक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक, नेता, शिक्षक, वकील और अधिकारी तो उपलब्ध कराती है परंतु अच्छे इंसान नहीं बना पाती। ऐसे विषाक्त और निराशापूर्ण माहौल में प्राणदायिनी शुद्ध वायु के झोंके के रूप में शिक्षा प्रणाली को राष्ट्रीय, भारतीय और आध्यात्मिक मूल्यों से अबद्ध करने की शुरूआत की नितांत आवश्यकता है।

स्वतंत्रता के पचास वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद भी यह दुर्भाग्य की बात है कि हम अपने लिए एक उचित शिक्षा प्रणाली एवं शिक्षा व्यवस्था दोनों का निर्माण करने में असफल सिद्ध हुए हैं। हांलाकि केन्द्रीय सरकार ने देश के लिए एक उचित शिक्षा प्रणाली की खोज के लिए समय-समय पर बहुत सारे शिक्षा आयोग जिनमें राधाकृष्णन, मुदालियर, कोठारी और राममूर्ति जैसे आयोग उल्लेखनीय हैं, गठित किए हैं और उनकी सिफारिशों के अनुसार यहां वहां कुछ परिवर्तन भी किए गए हैं लेकिन शिक्षा का मूल ढांचा वही बना रहा जो ब्रिटिश शासन में लॉर्ड मैकाले ने साम्राज्यवादी शासन व्यवस्था में गुलामों और मालिकों के बीच संवाद के लिए अंग्रेजी के जानकार भारतीयों के एक बाबू वर्ग का निर्माण करने के लिए गढ़ा था। अंग्रेज तो चले गए उनका भारत में शासन भी समाप्त हो गया लेकिन रह गयी उनकी शिक्षा व्यवस्था जो आज भी अधिकतर क्लर्क पैदा कर रही है और जिसके कारण सम्पूर्ण नौकरशाही और लालफीताशाही के नागपाश में जकड़ा हुआ है। बाबू मानसिकता और पटवारी बुद्धि हर कार्य में अडंगे डालना अच्छी तरह जानती है। यही कारण है कि हर कदम पर प्रगति बाधित हुई है। मानव विकास के सभी स्वीकार्य मापदण्डों जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, बच्चों की मृत्युदर, पोषण और ढांचागत विकास जिसमें संचार और आवागमन प्रमुख हैं की दृष्टि से दुनिया भर में सबसे पिछड़े देशों में भारत एक प्रमुख देश माना जाता है। इसके साथ ही भ्रष्टाचार, गरीबी, और भुखमरी से ग्रसित देशों की सूची में भी उसका नाम आता है। सामाजिक अन्याय, विषमता, स्त्रियों पर अत्याचार, बालश्रमिकों की दुर्दशा और विकास की दृष्टि से व्याप्त क्षेत्रीय असंतुलन जैसे रोग भारत की सामाजिक व्यवस्था की समरसता और शांति को खाए जा रहे हैं। इन सबमें भयंकर रूप से सिद्ध होने जा रही है, राजनीति से जुड़े लोगों की विश्वसनीयता में कमी, और राजनीति में होता जा रहा अपराधी तत्वों का समावेश। इस परिदृश्य में आंतरिक सुरक्षा और बाहरी आक्रमण से देश की रक्षा करना कहां तक संभव हो सकेगा, कहना मुश्किल है। राजनीति में आज ऐसे सरीखे लोगों की कमी नहीं है जिनके संबंध सीमापार के दुश्मनों से और जिनकी पहुंच देश के अंदर विभिन्न मंत्रालयों के सत्ता के गलियारों में गहराई तक बैठ गई है। कुल मिला कर लगता है कि जैसे कि हर आदमी बिकाऊ है। क्रिकेट जैसे भद्र लोगों के समझे जाने वाले खेल में सट्टेबाजी और बिकते हुए खिलाड़ी और खेल प्रशासक तो यही साबित करते हैं। इसका कारण है, क्योंकि समाज में पैसे की प्रतिष्ठा है चाहे वो किसी भी तरह क्यों न इकट्ठा किया गया हो।

सामाजिक और नैतिक मूल्यों के इस कदर के पतन की पराकाष्ठा के लिए निश्चित रूप में हमारी शिक्षा प्रणाली भी उत्तरदायी है जो ज्ञान और सूचना तो प्रदान करती है,

लेकिन विवेक जाग्रत नहीं करती। इसीलिए पढ़े लिखे लोग जानकार डॉक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक, नेता, शिक्षक, वकील और अधिकारी तो बन जाते हैं, लेकिन एक अच्छे इंसान नहीं बन पाते। समाज में इस तरह के अनेक उदाहरण हैं जहां इस तरह के प्रोफेशनल लोगों ने अपने व्यवसाय, के क्षेत्र में अपना नाम स्थापित किया लेकिन वहीं मनुष्य के रूप में सहकर्मी, परिवार, समाज और देख के साथ धोखा दिया। यहां तक कि अपनी पत्नी, बच्चे और मां बाप के साथ अत्याचार किया। ऐसे दुष्टों की समाज में संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है, जो कि चिंता का विषय है। ऐसे विषाक्त और निराशापूर्ण माहौल में यदि प्राणदायिनी शुद्ध वायु के झोंके के रूप में शिक्षा प्रणाली को राष्ट्रीय, भारतीय और आध्यात्मिक मूल्यों से आबद्ध करने की शुरूआत की जाए तो यही कहना पड़ेगा कि ऐसा तो बहुत पहले हो जाना चाहिए था, यानि कि ठीक आजादी प्राप्ति के बाद के स्वतंत्र भारत के प्रथम शिक्षा सत्र 1947-48 से।

राष्ट्रीय, भारतीय और आध्यात्मिक शिक्षा प्रणाली का मतलब है भारतीय मूल्यों जो उसके इतिहास, परंपरा और संस्कृति से निष्कृत हैं, उनका तथा राष्ट्रीय लक्ष्यों जो कि उसके संविधान में निहित हैं और एक व्यक्ति के रूप में उसके आध्यात्मिक रूप में उन्नत व्यक्तित्व के निर्माण के समवेत उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निर्मित प्रणाली से है। भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र एकात्म का भाव है, जो कि सृष्टि के जड़ और चेतन सभी रूपों में सामान्य रूप से व्याप्त परमात्मा को देखता और स्वीकार करता है। वेद घोषणा करते हैं "एकं सद्विप्रा बहुधा वन्दन्ति" यानि कि वह महान तत्व एक ही है, विद्वान उसे विभिन्न नामों से सम्बोधित करते हैं। इसी मूल भाव की अभिव्यक्ति भारत के प्रसिद्ध परमहंस संत श्री रामकृष्ण के सुप्रसिद्ध वाक्य "जितने मत, उतने पथ" में निहित है। दुनिया भर के सभी प्रमुख धर्मों के धर्मगुरु जिस दिन बैठकर यह घोषणा कर देंगें कि सत्य को प्राप्त करने का, ईश्वर और उसके स्वरूप और यदि निराकार हैं तो उसके पुत्रों या कि पैगम्बरों की पूजा की कोई एक नहीं बल्कि मंजिल तक पहुंचने के अनेक रास्तों की तरह अनेक पूजा की पद्धतियां हैं जो सभी को ईश्वर की ओर ले जाती हैं, उस दिन धर्म और धर्मातंरण को लेकर सभी विवाद शांत हो सकते हैं। लेकिन ऐसी घोषणा एक भारतीय के अलावा और कौन कर सकता है? यह एक विचारणीय प्रश्न है और यही भारतीय होने की विशिष्टता है। विवेकानंद ने 11 सितम्बर, 1893 ई. के दिन शिकागो की धर्म सभा में सिंहगर्जना की थी "मुझे उसे धर्म का अनुयाई होने का गर्व है, जिसने विश्व को सहिष्णुता और विश्व स्वीकृति सिखाया है। हम केवल सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते किन्तु सभी धर्मों का सत्य स्वीकार करते हैं।"

आध्यात्मिक उन्नति के लिए रामकृष्ण मिशन का सूत्र वाक्य "आत्मनो मोक्षार्थ जग द्विताय च" यानि की आत्मा की उन्नति के साथ अथवा कि आत्म उन्नति के साथ जगत का कल्याण करने के लिए सुकर्म करना प्रेरणास्पद और मनन करने के योग्य है। इसी प्रकार अन्य प्रसिद्ध भारतीय सूत्र "वसुधैव कुटुम्बकम" है जो कि सभी राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के शांतपूर्ण उचित हल प्राप्त करने के लिए प्रेरित करता है।

उपरोक्त उद्धरणों के प्रकाश में और ऐसे असंख्य उद्धरण जो भारतीय साहित्य परंपरा में उपलब्ध हैं और जो कि सत्य और वास्तविक हैं, यदि कोई "भारतीय शिक्षा प्रणाली" की बात सुनकर नाक भौं सिकोड़ता है अथवा कि उसे पुरोगामी और गुरुकुलों की वापसी कहकर मजाक उड़ाने का प्रयास करता है तो उसकी बुद्धि पर तरस आना स्वाभाविक है। भारतीय, राष्ट्रीय और आध्यात्मिक शिक्षा प्रणाली आधुनिक विषयों एवं सूचना तंत्र के विकास की विरोधी नहीं बल्कि उन्नत मस्तिष्क के धनी नए मनुष्य के विकास और हिंसामुक्त समाज और जगत के निर्माण के लिए आवश्यक ऊर्जा प्रदान करने में सहायक सिद्ध होगी।

अतः आवश्यकता है कि समस्त पूर्वाग्रहों से एवं सभी प्रकार की आशंकाओं से मुक्त होकर केन्द्रीय संसाधन विकास मंत्रालय भारतीय, राष्ट्रीय एवं आध्यात्मिक शिक्षा प्रणाली विषयक प्रस्ताव पर गंभीरतापूर्वक विचार प्रारंभ करने की दिशा में शीघ्र कदम उठाए। ▢▢

प्राचार्य
केन्द्रीय वियालय क्र. 2 ए. एफ. एस.
महाराजपुर, ग्वालियर

शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम : कल, आज और कल

❑ सुषमा तिवारी
❑ उदय सिंह

प्राचीनकाल से ही भारतीय समाज में शिक्षकों का अति सम्मानजनक स्थान रहा है क्योंकि समाज व राष्ट्र की वर्तमान व भावी आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु सुयोग्य नागरिकों का निर्माण करने जैसा गौरवपूर्ण कार्य शिक्षकों द्वारा ही सम्पन्न किया जाता रहा है। परंतु विद्यालयों में व्याप्त अव्यवस्था व शिक्षा प्रक्रिया में भागीदार समाज की वर्तमान पीढ़ी की स्थिति को देखकर शिक्षकों के कार्य, उनकी कार्यशैली व उत्तरदायित्वों पर प्रश्नचिन्ह लग गया है। शायद इसके मूल में शिक्षकों के प्रशिक्षण में कुछ कमियों का रह जाना है।

शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों में निरन्तर परिवर्तन होते रहने के कारण उनकी उपयोगिता एवं लोकप्रियता बढ़ी है, किन्तु इन कार्यक्रमों में गुणवत्ता का अभाव दिखायी पड़ता है। नवीनतम् ज्ञान प्रदान करने, शिक्षण कौशलों का विकास करने, सम्प्रेषण को अधिक प्रभावशाली बनाने इत्यादि के लिए शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों में विभिन्न सुधार लाने की आवश्यकता व उनका क्रियान्वयन आज की आवश्यकता बन गयी है।

प्राचीनकाल से ही भारतीय समाज में शिक्षकों को अति सम्मानजनक स्थान प्राप्त है। उसका स्थान ईश्वर से भी ऊंचा समझा जाता है क्योंकि समाज व राष्ट्र की वर्तमान व भावी आवश्यकताओं को पूरा करने वाले नागरिकों का निर्माण करने जैसा गौरवपूर्ण कार्य शिक्षकों द्वारा ही किया जाता है। एच.जी.वेल्स ने शिक्षकों के महत्व को बताते हुए कहा "शिक्षक इतिहास का निर्माता है। राष्ट्र का इतिहास विद्यालयों में लिखा जाता है और विद्यालय अपने शिक्षकों की गुणवत्ता से बहुत भिन्न नहीं हो सकते।"

राष्ट्र के निर्माण में प्रभावशाली शिक्षकों की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता लेकिन शिक्षालयों में व्याप्त अव्यवस्था व शिक्षा प्रक्रिया में भागीदार समाज की वर्तमान पीढ़ी की स्थिति को देखकर लगता है कि ऐसा कुछ अवश्य है जो वर्तमान युवा पीढ़ी को सिखाया नहीं जा सका है, कुछ मानवीय आदर्शों का विद्यार्थियों में विकास नहीं किया जा सका है। **कोठारी आयोग** ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि "भारत के भाग्य का निर्माण उसकी कक्षाओं में हो रहा है।" राष्ट्र निर्माण का यह पावन कार्य शिक्षक कर रहे हैं। लेकिन जब शिक्षक आज की चुनौतियों का सामना करने में स्वयं को अक्षम पा रहे हैं तो 21वीं शताब्दी में प्रवेश होकर यह कैसे सोचा जा सकता है कि वे नवीन चुनौतियों का सामना करने में सक्षम हो जाएंगे?

ऐसा क्यों है? शिक्षक की शिक्षण कुशलता उसकी कार्यशैली आदि प्रश्नांकित क्यों हो गयी है? इस संबंध में कुछ विचारकों का मत है कि शिक्षक जन्मजात होते हैं बनाए नहीं जाते। लेकिन पूर्व अनुसंधानों के परिणामों के

द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि प्रशिक्षित शिक्षक अप्रशिक्षित शिक्षकों की तुलना में अधिक प्रभावशाली होते हैं। इस प्रकार यह कहना अनुचित नहीं होगा कि प्रशिक्षण द्वारा शिक्षक-कुशलता में वृद्धि की जाती है जिससे शिक्षक शिक्षार्थियों के अधिगम को प्रभावशाली बनाने में सहयोग दे सके। लेकिन अध्यापक शिक्षा का वर्तमान परिदृश्य देखकर यह प्रतीत होता है कि शिक्षक अपने उत्तरदायित्वों व कर्त्तव्यों को पूरा करने में पूर्णतः असफल हो रहे हैं। शायद इसका कारण शिक्षकों के प्रशिक्षण में कुछ कमियों का रह जाना है। अतः छात्राध्यापकों के लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता व शिक्षण कार्य में लगे शिक्षकों के लिए भी प्रशिक्षण कार्यक्रम का महत्व बढ़ गया है।

कल

भारत में शिक्षक प्रशिक्षण का वर्तमान स्वरूप **"डेन मिशनरियों"** द्वारा स्थापित किया गया तथा सन् 1716 में ट्रान्क्यूबर में एक नार्मल स्कूल की स्थापना की गयी। इसी क्रम में सन् 1793 में सीरमपुर में एक और नार्मल स्कूल की स्थापना की गयी। सन् 1801 से लेकर सन् 1882 तक गैर सरकारी संगठनों ने प्राथमिक शिक्षक प्रशिक्षण के लिए कार्य किया। सन् 1815 में बम्बई की **"देशी शिक्षा परिषद्"** ने 24 शिक्षकों को प्रशिक्षण दिया। मद्रास के तत्कालीन गर्वनर सर टॉमस मुनरों ने 1826 में गवर्नमेन्ट नार्मल स्कूल की स्थापना की जो 1886 में अध्यापक शिक्षण महाविद्यालय के रूप में विकसित हुआ।

अंग्रेजी शासनकाल में शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम के प्रचार तथा प्रसार के लिए विभिन्न आयोगों ने कुछ महत्वपूर्ण सुझावों को बताया। **वुड के घोषणा पत्र** (1854) में प्रारंभिक विद्यालयों के शिक्षकों के प्रशिक्षण पर बल दिया गया। फलस्वरूप कुछ प्रशिक्षण संस्थानों की स्थापना भी की गयी। **हण्टर आयोग** (1882) ने शिक्षण प्रशिक्षण के महत्व को स्वीकार करते हुए "नार्मल स्कूल" खोले जाने पर बल दिया। इसकी संस्तुति के आधार पर ही 1892 तक 116 शिक्षक प्रशिक्षण कालेज पुरुषों के लिए तथा 15 कालेज महिलाओं के लिए स्थापित किए गए। **भारत सरकार** ने 1904 की शिक्षा नीति के आधार पर मद्रास, पश्चिम बंगाल, जबलपुर, इलाहाबाद व लाहौर में प्रशिक्षण कालेज स्थापित किए। **कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग** (1917-1919) ने अपने सुझावों में कहा कि शिक्षकों में केवल शिक्षण कुशलता का ही नहीं अपितु प्रशासनिक गुणों का होना भी आवश्यक है। आयोग के सुझावों के आधार पर ही उस समय 18 में से 13 विश्वविद्यालयों ने अपने यहां शिक्षा विभाग की स्थापना की। **हर्टांग समिति** (1929) ने मुख्य रूप से शिक्षण कार्य में लगे हुए शिक्षकों के लिए सेमिनार, कान्फ्रेन्स व रेफ्रेशर कोर्स जैसे कार्यक्रमों के आयोजन पर बल दिया। साथ ही प्रशिक्षण विद्यालयों के पुस्तकालयों तथा प्रयोगशालाओं को बेहतर बनाने का सुझाव दिया। सन् 1937 में राष्ट्रपिता **महात्मा गांधी** द्वारा वर्धा में एक सम्मेलन का आयोजन किया गया जहां शिक्षक शिक्षा की संरचना पर विचार करते हुए विचारकों ने सुझाव दिया कि शिक्षकों को "नवीन विधि" तथा "नवीन शिक्षा दर्शन" के आधार पर प्रशिक्षित किया जाए। इस सुझाव के आधार पर "बेसिक शिक्षक प्रशिक्षा विद्यालय" अस्तित्व में आए। इसी आधार पर उ.प्र. के इलाहाबाद में सर्वप्रथम बेसिक शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय की स्थापना की गयी। यहां शिक्षकों को कृषि, गृह विज्ञान व हस्तशिल्प पर आधारित जैसे विषयों को पढ़ाने की कुशलता का ज्ञान दिया जाता था। **सर जान सार्जेन्ट** (1944) की अध्यक्षता में गठित समिति ने शिक्षक प्रशिक्षण को सुदृढ़ बनाने के लिए सुझाव दिया कि शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालयों की स्थापना विश्वविद्यालयों के शिक्षा विभाग व सरकार द्वारा की जाए तथा उनका गुणात्मक विकास किया जाए। इस समिति ने जूनियर बेसिक स्कूल के शिक्षकों के प्रशिक्षण की अवधि 3 वर्ष तथा ग्रेजुएट शिक्षकों के लिए 2 वर्ष की प्रशिक्षण अवधि किए जाने का सुझाव दिया।

आजादी के पश्चात सन् 1948 में **एस. राधाकृष्णन्** की अध्यक्षता में गठित **विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग** ने अपने सुझाव में "शिक्षण अभ्यास" को अधिक समय तथा प्रायोगिक परीक्षाओं को अधिक महत्व दिए जाने के सैद्धान्तिक विषयों में लचीलापन व परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार ग्रहणीय बनाए जाने की बात कही। **माध्यमिक शिक्षा आयोग** (1952-53) ने यह अनुभव किया

कि शिक्षा के पुनर्निर्माण में शिक्षक, उसकी व्यक्तिगत योग्यता, शैक्षिक योग्यता, व्यावसायिक प्रशिक्षण और उसकी समुदाय में स्थिति आदि महत्वपूर्ण तत्व हैं। अतः शिक्षक प्रशिक्षण के महत्व को स्वीकार करते हुए आयोग ने सुझाव दिया कि पूर्व स्नातकों के लिए 2 वर्ष तथा स्नातकों के लिए 1 वर्ष का प्रशिक्षण पाठ्यक्रम होना चाहिए तथा शिक्षकों को एक या दो प्रशिक्षण सहगामी क्रियाओं में प्रशिक्षित होना चाहिए। साथ ही प्रशिक्षण विद्यालयों में अनुसंधान कार्य तथा शिक्षण कार्य में लगे शिक्षकों के लिए रेफ्रेशर कोर्स, वर्कशाप तथा कान्फ्रेन्स का आयोजन किया जाय। अप्रशिक्षित शिक्षकों के लिए विशिष्ट अंशकालिक पाठ्यक्रमों का आयोजन करने की संस्तुति की गयी। इस आयोग के सुझावों के आधार पर योग्य तथा प्रशिक्षित अध्यापकों की आवश्यकता को पूरा करने के लिए **राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (1963)** ने देश में चार क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालयों (परिवर्तित नाम संस्थान) की स्थापना की। इन महाविद्यालयों (संस्थानों) में सेवारत शिक्षकों तथा छात्राध्यापकों के लिए विभिन्न कार्यक्रमों का विकास किया जाता है। **कोठारी आयोग (1964-66)** ने शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम की गुणवत्ता का विकास करने के लिए अभिमुखीकरण पाठ्यक्रम शिक्षण अभ्यास के स्थान पर (इन्टर्नशिप कार्यक्रमों) के आयोजन तथा समयानुसार पाठ्यक्रम में परिवर्तन किए जाने का सुझाव दिया। इस सुझाव के आधार पर यू.जी.सी. तथा एन.सी.ई.आर.टी. ने व्यापक स्तर पर ग्रीष्मकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन किया। 21वीं शताब्दी की चुनौतियों का सामना करने के लिए राष्ट्रीय **शिक्षा नीति (1986)** में शिक्षक तथा शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम पर विस्तृत विचार विमर्श किया गया तथा इससे जुड़े सभी पक्षों का विश्लेषण करने का सुझाव दिया कि अध्यापक शिक्षा में आमूल चूल परिवर्तन करना आवश्यक है। साथ ही प्रशिक्षण पाठ्यक्रम में संशोधन किए जाने तथा शिक्षकों के लिए सतत् शिक्षा तथा शारीरिक रूप से अपंग बालकों को पढ़ाने वाले शिक्षकों के लिए विशेष शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम के संगठन पर बल दिया। शिक्षक प्रशिक्षण के सुचारू संचालन व प्रशासन के उद्देश्य से 1973 में **राष्ट्रीय शिक्षक शिक्षा परिषद्** की स्थापना की गयी जिसे राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) के सुझाव के आधार पर स्वायत्तता तथा विधित दर्जा दिया गया। परिषद् ने अखिल भारतीय स्तर पर अध्यापक शिक्षा के पाठ्यक्रम के पुनर्गठन का महत्वपूर्ण कार्य किया। इसकी चार क्षेत्रीय समिति, जयपुर, भुवनेश्वर, भोपाल तथा बंगलूर में स्थापित की गयी जो सम्पूर्ण देश में अध्यापक शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य कर रही है।

आज

विभिन्न आयोगों व समितियों के सुझावों के आधार पर शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों के प्रसार के लिए अनेक कदम उठाये गए हैं। निम्नलिखित तालिका से शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम के क्रमिक विकास का अनुमान लगाया जा सकता है।

निम्न तालिका को देखकर यह स्पष्ट होता है कि शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों की महत्ता दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। 1971 में शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालयों में नामांकित होने वाले छात्र-छात्राओं की संख्या में 1997 तक

तालिका

शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालयों में नामांकन की स्थिति

स्तर	1971		1981		1986		1991		1997	
	लड़के	लड़कियां	लड़के	लड़कियां	लड़के	लड़कियां	लड़के	लड़कियां	लड़के	लड़कियां
स्नातक (बी.एड.)	34,798	21,234	36,340	31,509	44,604	35,772	51,453	40,764	66,018	50,023

दो गुने से अधिक वृद्धि हुई है। प्रशिक्षण के माध्यम से भावी अध्यापकों में अपने कृत्य के प्रति सकारात्मक अभिव्यक्ति तथा कृत्य की मांग के अनुसार प्रयोग में आने वाली कुशलता का विकास किया जाता है जिससे वह छात्रों के अधिगम के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण रखें तथा अपने ज्ञान में वृद्धि के साथ-साथ छात्रों को भी नवीनतम् ज्ञान प्रदान करने में सक्षम हो सके। शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम की वर्तमान स्थिति को इस प्रकार से समझा जा सकता है।

देश में प्राथमिक स्तर पर शिक्षण हेतु शिक्षण का प्रशिक्षण देने के लिए प्रत्येक जनपद में एक **जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान** (डाइट) की स्थापना की गयी है। माध्यमिक कक्षाओं में अध्यापन हेतु प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए विश्वविद्यालयों के शिक्षा विभागों एवं सम्बद्ध महाविद्यालयों में बी.एड. उपाधि की व्यवस्था है। बी.एड. के लिए न्यूनतम शैक्षिक योग्यता स्नातक उपाधि में 45% अंकों का होना आवश्यक है। इन कार्यक्रमों में प्रशिक्षण की अवधि 1 वर्ष है। इस अवधि में छात्र शिक्षकों में शिक्षण कौशल तथा शिक्षण संस्कृति विकसित करने का प्रयास किया जाता है। इसका पाठ्यक्रम दो भागों में बांटा हुआ है—(1) सैद्धान्तिक (2) प्रयोगात्मक। यद्यपि सरकार ने स्नातक स्तरीय शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम की अवधि एक वर्ष निर्धारित की है तथापि आज लगभग सभी प्रशिक्षण महाविद्यालयों में 4-5 माह में ही सम्पूर्ण पाठ्यक्रम समाप्त कर लेने की प्रवृत्ति पायी जाती है। "शिक्षण अभ्यास" जिसके द्वारा विशिष्ट कुशलता का ज्ञान कराया जाता है कुछ विद्यालयों में मात्र 4 से 6 दिनों में ही सम्पन्न करा दिया जाता है। ऐसी स्थिति में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जिन शिक्षकों के व्यक्तित्व का स्वयं ही विकास न हुआ हो वे शिक्षार्थियों के व्यक्तित्व का विकास किस प्रकार करेंगे? प्रायः यह भी देखा जाता है कि जिन कुशलताओं का विकास प्रशिक्षण के समय छात्र-अध्यापकों में किया गया था उन्हें वह कक्षाकक्ष में आकर भूल जाते हैं तथा आराम को अधिक महत्व देते हुए परम्परागत तरीके से ही शिक्षा प्रदान करते हुए पाए जाते हैं।

यद्यपि विभिन्न आयोगों ने अपने प्रतिवेदनों में प्रशिक्षण विद्यालयों के भवन, प्रयोगशाला एवं पुस्तकालय आदि को सुदृढ़ बनाने की प्रबल संस्तुतियां की हैं तथापि ये संस्तुतियां केवल कागज पर ही रहीं तथा क्रियान्वित नहीं हो पायीं। अधिकांश प्रशिक्षण महाविद्यालयों के पुस्तकालयों में अच्छी किताबें, शोध पत्रिकाओं आदि का अभाव है। प्रयोगशालाओं में आवश्यक यंत्रों व सामग्री का अभाव है तथा कहीं-कहीं पर्याप्त भवन ही नहीं हैं।

शिक्षक प्रशिक्षण की त्रुटियों का पहला चरण छात्रों के पाठ्यक्रम में प्रवेश से ही शुरू हो जाता है। प्रायः अध्यापन को व्यवसाय के रूप में चयन करने वाले वे छात्र होते हैं जिन्हें अन्य किसी व्यवसाय में स्थान नहीं मिल पाता। अपनी इच्छा से प्रथम वरीयता देते हुए शिक्षक बनने की कामना शायद 10% लोग ही मन से करते हैं। अतः अनिच्छा से कार्य करने का चयन करने वाले शिक्षक कौन सी चुनौती का सामना करने में सक्षम होंगे, यह विचारणीय प्रश्न है।

यद्यपि शिक्षक प्रशिक्षण के सैद्धान्तिक पाठ्यक्रम निर्माण में राष्ट्र की आधारभूत विशेषताओं का पूरा ध्यान रखा गया है तथापि पाठ्यक्रम के सैद्धान्तिक पक्ष का कक्षा-कक्ष शिक्षण से कितना व कैसा सह-सम्बन्ध है, यह ध्यान देने योग्य बात है। मूल्यांकन प्रक्रिया में भी अनेक दोष देखे जा सकते हैं।

शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम मात्र छात्र-अध्यापकों के लिए ही नहीं है अपितु शिक्षण कार्य कर रहे शिक्षकों के लिए भी बनाए गए लेकिन इनकी स्थिति भी दयनीय है। वर्तमान युग वैज्ञानिक युग है जिसमें नित्य नये परिवर्तन व नवीन प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव होता रहता है। शिक्षक अपने छात्रों को इन परिवर्तनों से परिचित करा सकें इसके लिए आवश्यक है कि उनका ज्ञान भी अद्यतन हो। सेवारत शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम की आवश्यकता को बताते हुये **रवीन्द्रनाथ टैगोर** ने कहा था—"कोई भी अध्यापक तब तक अच्छा शिक्षण नहीं कर सकता जब तक कि वह स्वयं अध्ययन नहीं करता। एक दीपक तब तक दूसरे दीपक को प्रदीप्त नहीं कर सकता, जब तक कि वह स्वयं लगातार जलता नहीं रहता। वह अध्यापक जो अपने पाठ के अन्त पर पहुंच चुका है, जिसके पास ज्ञान का सजीव मार्ग नहीं

है वह अपने छात्रों के समक्ष पाठ को मात्र दोहरा सकता है तथा केवल उनके मस्तिष्क को बोझिल बना सकता है।" **'कोठारी आयोग'** तथा **'राष्ट्रीय शिक्षा नीति'** में शिक्षकों के लिए ओरिएन्टेशन कोर्स, समर-इन्स्टीट्यूट की स्थापना तथा रेफ्रेशर कोर्सेज शुरू करने का सुझाव दिया गया, लेकिन इन सुझावों का क्रियान्वयन आज तक उचित ढंग से नहीं हो पाया है।

वर्तमान में लगभग 2100 शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय हैं। यद्यपि इनकी संख्या संतोषजनक नहीं है लेकिन उनकी गुणवत्ता कहीं अधिक असंतोषजनक है। शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों में गुणात्मकता की कमी का प्रभाव शिक्षण संस्थाओं व समाज में दृष्टिगोचर होने लगा है जो कि आगामी वर्षों में वीभत्स रूप धारण कर सकता है। अतः कुछ ठोस कदम उठाए जाने की आवश्यकता बढ़ गयी है।

कल

अध्यापक शिक्षा की उपरोक्त दशा के कारणों को जानने तथा उन्हें दूर करने के लिए गहन समीक्षा की आवश्यकता है। समीक्षा का उत्तरदायित्व केन्द्र व राज्य सरकारों, एन.सी.टी.ई., शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों, एन.सी.ई.आर.टी. आदि सभी का है। उपरोक्त में से न तो किसी एक को जिम्मेदार ठहराया जा सकता है न ही किसी की जवाबदेही दूसरे की तुलना में कम है। 21वीं शताब्दी का जैसा स्वरूप हम चाहते हैं उसी आधार पर शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम में परिवर्तन व सुदृढ़ीकरण करना होगा इसके लिए—

* सर्वप्रथम प्रशिक्षण संस्थाओं में प्रवेश के लिए ली जाने वाली प्रवेश परीक्षा में सुधार किया जाए, जिसमें शिक्षण अभिरुचि परीक्षा को मानकीकृत बनाया जाए, ताकि उन व्यक्तियों का चयन हो सके जो वास्तव में शिक्षक बनना चाहते हैं। सम्पूर्ण प्रवेश परीक्षा को वैध तथा विश्वसनीय बनाया जाय।
* आजादी के पश्चात् गठित सभी आयोगों ने शिक्षक प्रशिक्षण अवधि को 1 वर्ष से अधिक किए जाने का सुझाव दिया। यद्यपि कुछ विश्वविद्यालयों ने इन पाठ्यक्रमों की अवधि दो वर्ष कर भी दी है परंतु आवश्यकता इस बात की है कि सुझाव को सभी विश्वविद्यालयों में एक साथ यथाशीघ्र क्रियान्वित किया जाय, क्योंकि शिक्षक राष्ट्र एवं उसके नागरिकों का निर्माण करता है अतः स्वयं शिक्षक के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास अत्यावश्यक है। इसके लिए एक वर्षीय पाठ्यक्रम पर्याप्त नहीं है।
* शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम व्यय नहीं बल्कि निवेश है। अतः धन के अभाव में शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों की गुणवत्ता में कमी बहुत ही दयनीय स्थिति की ओर संकेत करती है, जो कि नहीं होनी चाहिए।
* प्रशिक्षण काल में शिक्षण कौशल के विकास के लिए "पाठ योजना" तथा "शिक्षण अभ्यास" की संख्या बढ़ायी जानी चाहिए।
* प्रशिक्षक द्वारा छात्राध्यापक की कक्षाकक्ष गतिविधियों का अधिक समय तक निरीक्षण किया जाना चाहिए जिससे कि छात्राध्यापक की त्रुटियों का पता लगाया जा सके तथा उन्हें दूर किया जा सके।
* शिक्षण कार्य केवल एक व्यवसाय नहीं बल्कि उत्तरदायित्व है, जिसमें पूर्ण समर्पण की आवश्यकता होती है। प्रशिक्षणकाल में इस अभिवृत्ति को छात्राध्यापकों में विकसित किया जाना चाहिए।
* शिक्षा मनोविज्ञान का ज्ञान छात्र-शिक्षकों को दिया जाए साथ ही कक्षा में उस ज्ञान को व्यावहारिक रूप देने की कुशलता का विकास भी उनमें किया जाए।
* वर्तमान में मूल्यों के पतन ने अनेक वीभत्स परिस्थितियां उत्पन्न कर दी हैं जो कि भविष्य में कैसा रूप धारण करेंगी इसकी मात्र कल्पना ही की जा सकती है। अतः अपने छात्रों, समाज व राष्ट्र के समक्ष आदर्श उपस्थित करने वाले शिक्षकों को प्रशिक्षण काल में ही नैतिक मूल्यों की शिक्षा दी जानी चाहिए।
* प्रशिक्षण कार्यक्रमों में समयबद्धता, अनुशासन, सहयोग, समूहभाव जैसे गुणों के विकास पर बल दिया जाना चाहिए।
* विद्यालय में केवल औपचारिक शिक्षण के द्वारा शिक्षकों का पूर्ण विकास किया जाना असम्भव है। अतः सरस्वती यात्राओं, शैक्षिक भ्रमण तथा बाह्य क्रियाओं

को प्रशिक्षण पाठ्यक्रम का अंग बनाया जाना चाहिए। साथ ही प्रशिक्षण संस्थाओं में अन्य पाठ्यक्रम-सहगामी क्रियाओं का आयोजन किया जाना चाहिए तथा एक या दो पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं में प्रत्येक शिक्षक को प्रशिक्षित किया जाय।

* प्रशिक्षण विद्यालयों की प्रयोगशाला तथा पुस्तकालयों की स्थिति में सुधार किया जाना चाहिए। लेखकों की नवीन संशोधित पुस्तकों को मंगाया जाए। विभिन्न विषयों से सम्बन्धित जरनल्स आदि मंगाए जाने चाहिए तथा इनके अधिकाधिक प्रयोग पर बल भी दिया जाना चाहिए।
* प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों के निर्माण में शिक्षकों की भागेदारी को महत्व प्रदान किया जाना चाहिए क्योंकि कक्षा-कक्ष शिक्षण में आने वाली परेशानियों को शिक्षक अधिक स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं।
* प्रशिक्षण पाठ्यक्रम में परिवर्तन किया जाना आवश्यक हो गया है क्योंकि दस साल पहले बना पाठ्यक्रम वर्तमान के लिए ही उपयोगी सिद्ध नहीं हो रहा है। अतः उनके आधार पर 21वीं शताब्दी की नवीन सम्भावित चुनौतियों का सामना नहीं किया जा सकता है।
* प्रशिक्षण विद्यालयों में प्रयुक्त की जा रही मूल्यांकन पद्धति में भी सुधार की आवश्यकता है। प्रायः इन परीक्षाओं का मूल्यांकन स्नातक तथा स्नातकोत्तर परीक्षाओं की भांति ही होता है जो कि उचित नहीं है।

शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों का पुनर्गठन एवं उनमें वांछित सुधार की आवश्यकता ही नहीं है बल्कि उनका क्रियान्वयन सुनिश्चित करना तथा शिक्षक द्वारा उनका कक्षाकक्ष शिक्षण में अनुप्रयोग किया जाना भी आवश्यक है। शिक्षक समाज व राष्ट्र को दिशा प्रदान करने का पावन कार्य करते हैं। अतः उनके लिए सही प्रशिक्षण की आवश्यकता को स्वीकार करना होगा जिससे कि वे राष्ट्र की परिवर्तित आवश्यकताओं से परिचित हो सकें तथा लाभदायक परिणाम प्रस्तुत कर सके। □□

सहायक अध्यापिका एवं शोध छात्रा
74/3, विष्णुपुरी कालोनी, नवाबगंज, कानपुर
प्रवक्ता, राजीवगांधी शिक्षा महाविद्यालय
डी.बी.एच.पी.एस., डी.सी. कम्पाउण्ड
धारवाड़, कर्नाटक

संदर्भ

अग्रवाल, सुभाष चन्द्र, (1997) रि-इन्जीनियरिंग टीचर एजुकेशन : व्हाई : नेशनल कान्फ्रेन्स आन रि-इंजीनियरिंग एजुकेशन, बरेली, इन्स्टीट्यूट आफ एडवान्स्ड स्टडीज इन एजुकेशन, रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, अप्रैल 18-20।

चौरसिया, जी., (1998) : टीचर एजुकेशन : न्यू पर्सपेक्टिवस फार ट्वेन्टी फर्स्ट सेन्चुरी, स्वर्ण जयन्ती स्मारिका, मथुरा, किशोरी रमण शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय।

करिकुलम फ्रेमवर्क फार टीचर एजुकेशन : डिस्कशन डाक्यूमेन्ट (1996) एन.सी.टी.ई. नई दिल्ली।

दुआ, राधा, (1997) : रि-इन्जीनियरिंग टीचर्स एजुकेशन विद रेफ्रेन्स टू टीचर्स एकाउन्टेबिलिटी, नेशनल कान्फ्रेन्स आन

रि-इंजीनियरिंग एजुकेशन, बरेली, इन्स्टीट्यूट आफ एडवांस्ड स्टडीज इन एजुकेशन, रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, अप्रैल 18-20।

प्रोग्राम आफ एक्शन : नेशनल पालिसी आन एजुकेशन : (1986) : गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया, मिनिस्ट्री आफ ह्यूमन रिसोर्स डेवलपमेन्ट, डिपार्टमेन्ट आफ एजुकेशन, नई दिल्ली।

शर्मा, गोपीनाथ (1998) : शिक्षक प्रशिक्षण की गुणवत्ता कैसे बढ़ेगी, स्वर्ण जयन्ती स्मारिका, मथुरा, किशोरी रमण शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय।

शर्मा, आर. ए., (1997) : टीचर एजुकेशन, मेरठ, लायल बुक डिपो।

शर्मा, यू.पी., (1998) : टीचर एजुकेशन इन इण्डिया : ए हिस्टोरिकल सर्वे आफ इट्स ओरजिन एण्ड डेवलपमेन्ट विद स्पेशल रेफ्रेन्स टू यू.पी., स्वर्ण जयन्ती स्मारिका, मथुरा, किशोरी रमण शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय।

त्रिपाठी, कृष्णानन्द भार्गव (1999) : भारत में अध्यापक शिक्षा की दशा एवं 21वीं सदी में इसको बेहतर बनाने की संभावनाएं, नेशनल सेमिनार ऑन हायर एजुकेशन इन 21 सेन्चुरी : विजन एण्ड एक्शन, बरेली, रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, मार्च 20-22।

सामाजिक दृष्टि से अष्टांग योग की उपयोगिता

❑ सुधा दुर्गापाल

'योग' प्राचीन भारतीय मनीषियों तथा चिन्तकों द्वारा प्रणीत एक ऐसा विज्ञान है जिसके माध्यम से व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास निश्चित रूप से किया जा सकता है। महर्षि पातंजलि ने योगशास्त्र में शरीर, मन, विचार और इन्द्रियों की शुद्धि के लिए आठ प्रकार के साधनों का निर्देश दिया है जिन्हें अष्टांग योग के नाम से जाना जाता है। अष्टांग योग का परिपालन व्यक्ति में उच्चकोटि के सामाजिक मूल्यों का विकास करता है। वर्तमान चिकित्सा विज्ञान ने भी योग दर्शन की सामाजिक उपादेयता को सिद्ध किया है क्योंकि स्वस्थ एवं संतुलित व्यक्ति ही समृद्ध और प्रगतिशील समाज के निर्माण में सक्षम हो सकता है।

भारत विश्व की प्राचीनतम संस्कृति एवं सभ्यताओं का जनक रहा है, जहां कला, विज्ञान, साहित्य, धर्मनीति एवं राजनीति आदि अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुए। दर्शन के क्षेत्र में भारत का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। भारत ने अपनी आध्यात्मिक तथा दार्शनिक ज्ञान राशि के बल पर ही अतीत काल में जगद्गुरु के पद पर आसीन होकर समस्त संसार को संस्कृति और सभ्यता का मार्ग प्रशस्त करने में प्रमुख योगदान दिया है। भारतीय दर्शन का मूल स्रोत वेद माना जाता है। वैदिक मान्यताओं की आस्था एवं विश्वास के आधार पर दो प्रमुख विचारधाराओं का विकास हुआ। इन दोनों विचारधाराओं को ही "आस्तिक" एवं "नास्तिक" दर्शन कहा जाता है। आस्तिक से यहां पर तात्पर्य परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने से नहीं है, वरन वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करने से है। इन दर्शनों के अन्तर्गत छः दर्शन अधिक प्रसिद्ध हैं और बैधि वैदिक दर्शन के नाम से जाने जाते हैं। सांख्य व योग षड्दर्शन परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। इन्हें सभी आस्तिक व नास्तिक मतों में निर्विवाद रूप से स्वीकार किया गया है। सांख्य व योग एक दूसरे के पूरक हैं। यदि सांख्य को दर्शन का ज्ञान पक्ष व योग को कर्म पक्ष कहा जाय तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। मानव व्यक्तित्व के विकास में दोनों का अभूतपूर्व योगदान रहा है। ऐतिहासिक क्रम के आधार पर सांख्य दर्शन को कपिल मुनि तथा योग को पातंजलि द्वारा प्रणीत माना जाता है। "योग" प्राचीन भारतीय मनीषियों तथा चिन्तकों द्वारा प्रणति एक ऐसा विज्ञान है, जिसके माध्यम से व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास निश्चित रूप से किया जा सकता है। भले ही आधुनिक भारतीय इस ज्ञान के महत्व को पूर्णरूप से नहीं समझ सके, किन्तु जब यही भारतीय योग का ज्ञान पाश्चात्य जगत से योगा के रूप में प्रसारित किया गया तब उसके महत्व को नए रूप में समझ रहे हैं।

भौतिक एवं आध्यात्मिक उपलब्धि के आधार पर हम समस्त दर्शनों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—

1. भौतिक पक्ष पर प्रमुखता देने वाले दर्शन।
2. आध्यात्मिक पक्ष पर प्रमुखता देने वाले दर्शन।

भारतीय दर्शन के विकास की परम्परा में एक वर्ग ऐसा है जो उपरोक्त दोनों मतों के मध्य का मार्ग ग्रहण करते हुए व्यक्तित्व के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों पक्षों

का समर्थन करता है। सांख्य व योग इस परम्परा में अति महत्वपूर्ण, तार्किक व व्यावहारिक प्रतीत होते हैं, क्योंकि ये वैज्ञानिक व आध्यात्मिक दोनों पक्षों का समर्थन करते हैं। सांख्य व योग का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि प्रायः सांख्य व योग की साथ-साथ चर्चा की गई है और योग को सश्वर सांख्य के रूप में सांख्य का ही एक भेद माना गया है। सांख्य तत्व मीमांसा प्रधान है व योग आचार मीमांसा प्रधान है।

सांख्य योग दर्शन का सामाजिक स्वरूप

अधिकांश भारतीय दर्शनों की भांति सांख्य एवं योग दर्शन का मुख्य लक्ष्य दार्शनिक विवेचना ही रहा है। प्रारंभ में इस दर्शन को केवल आध्यात्मिकता की प्राप्ति के साधन के रूप में ही समझा जाता था किन्तु वर्तमान में इसका महत्व अनेक क्षेत्रों में माना गया है।

यद्यपि इन दर्शनों में सामाजिक स्वरूप को स्पष्ट रूप से वर्णित नहीं किया गया है किन्तु फिर भी इन दर्शनों का गहन अध्ययन कर इनमें निहित सामाजिक पक्ष को विवेचित करने का प्रयास किया जा रहा है। सामाजिक स्वरूप को समझना इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि व्यक्ति का विकास समाज में ही होता है। व्यक्ति स्वभाव से सामाजिक होता है। उसका सम्पूर्ण जीवन समाज का ही दिया हुआ है। लिखना-पढ़ना, बोलना चालना तथा अन्य व्यक्तियों के साथ व्यवहार करना, यह सब वह समाज से ही सीखता है। अतः अपने सम्पूर्ण विकास के लिए वह समाज का ऋणी है। व्यक्ति का व्यक्तित्व उसकी वस्तुगत वस्तु नहीं है वरन् वह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा विश्व का वास्तविक कल्याण किया जा सकता है।

जिस प्रकार बिना समाज के व्यक्ति की कल्पना करना भ्रमात्मक है उसी प्रकार बिना व्यक्तियों के समाज की कल्पना करना भी भूल है। समाज व्यक्तियों का एक समूह है जिसकी रचना व्यक्तियों ने अपने हित के लिए की है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति में कुछ जन्मजात शक्तियां तथा विशेषताएं होती है। इन विशेषताओं के विकसित होने पर ही विभिन्न व्यक्तियों ने समय-समय पर संस्कृति, सभ्यता एवं विज्ञान के क्षेत्रों में अपना-अपना योगदान दिया है। इसी से सामाजिक प्रगति का क्षेत्र बढ़ा और बढ़ता ही चला जा रहा है। अतः यह कहना अनुचित नहीं होगा कि व्यक्ति के विकास का अर्थ है—सामाजिक विकास, योग दर्शन में निहित सामाजिक विकास के पक्षों का अति संक्षिप्त निरूपण प्रस्तुत किया जा रहा है। सांख्य व योग का विशद अध्ययन करने से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि व्यक्ति के कर्तव्य केवल स्वयं तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि सम्पूर्ण मानव समाज उसकी परिधि में आता है।

योग का अर्थ

योग-दर्शन में योग का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा गया है "योगाश्चीत्तवृत्ति निरोधः" अर्थात चित्तवृत्तियों का निरोध करना ही योग है। शरीर, मन एवं इन्द्रियों की शुद्धि से योग सिद्ध होता है। महर्षि पातंजलि द्वारा योगशास्त्र में शरीर, मन, विचार और इन्द्रियों की शुद्धि के लिए आठ प्रकार के साधनों का निर्देश दिया गया है। इन्हें ही अष्टांग योग के नाम से जाना जाता है। योग के आठ अंक हैं—

1. यम 2. नियम 3. आसन 4. प्राणायाम 5. प्रत्याहार 6. धारणा 7. ध्यान 8. समाधि।

योग दर्शन में निहित सामाजिक स्वरूप को निम्नलिखित ढंग से अभिव्यक्त किया जा सकता है—

1. यम

शरीर, वाणी एवं मस्तिष्क का नियंत्रण ही यम है। यम पांच प्रकार के हैं—

"अहिंसा सत्यास्तेय ब्रहमचर्यायरिग्रहा यमाः (यो.सू. 2:30) योग दर्शन में अहिंसा का अर्थ व्यापक रूप से निरुपित किया गया है। सामान्य रूप से अहिंसा का अर्थ किसी भी प्राणी को कष्ट न देना है किन्तु योग दर्शन में अहिंसा का अर्थ किसी भी प्राणी के प्रति, किसी भी काल में, किसी भी प्रकार का अर्थात उसे मारने या सताने का विचार तक न लाना है। आत्मा में अहिंसा के प्रतिष्ठित होने पर योगी में किस प्रकार के चिन्ह उभर आते हैं, सूत्रकार ने बताया है—

"अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधो वैरत्यागः" (यो.सू. 2:35) अर्थात जब किसी योगी का अहिंसाभाव पूर्णतया

दृढ़ स्थिर हो जाता है तब उसके निकटवर्ती हिंसक जीव भी वैरभाव से रहित हो जाते हैं। ऐसे ऋषि मुनि आश्रमों के अनेक वर्णन साहित्य में उपलब्ध होते हैं जहां सिंह व गाय एक साथ खाते पीते रहते हैं। विस्तृत अर्थ में अहिंसा का तात्पर्य लिया जाता है— हर प्रकार से और हर समय में समस्त जीवित प्राणियों के प्रति द्वेषभाव का निषेध करना। यह केवल क्षति पहुंचाने का अभाव ही नहीं किन्तु वैर का त्याग भी है। समाज में शांति व सुव्यवस्था की स्थापना के लिए यह भाव अत्यन्त महत्वपूर्ण व आवश्यक है। हमारी भारतीय संस्कृति की भावना "अहिंसा परमो धर्मः" प्राचीन काल से ही रही है। इस भावना का परिपालन सामाजिक, राष्ट्रीय सद्भावना का विकास करता है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना भी इसी भाव से ओतप्रोत है।

असत्य

मोटे तौर से जो बात जैसी सुनी है उसे वैसे ही कहना "सत्य" कहलाता है। व्यापक रूप से सत्य वह वचन है जिससे दूसरे की भलाई हो एवं सन्मार्ग के लिए प्रोत्साहन मिले। मन, वचन व कर्म से सत्य का परिपालन समाज का हर दृष्टिकोण से विकास करता है। 'सत्यमेव जयतेनाऽनृतम्' यह हमारा प्राचीन आदर्श रहा है। जिस समाज के व्यक्ति सत्य का परिपालन करेंगे वह समाज अवश्य उन्नति करेगा। मन की सबलता के लिए भी सत्य का आदर्श आवश्यक है। जिसके मन में सत्य की शक्ति नहीं है मन में तेज नहीं आ सकता है। अनुचित कार्य करने से व्यक्ति के मन में छिपा हुआ चोर उसे कभी सफल नहीं होने देता।

अस्तेय

निषिद्ध रीति में दूसरों का द्रव्य ग्रहण न करना एवं सांसारिक पदार्थों की इच्छा नहीं रखना अस्तेय है। इसके सिद्ध हो जाने पर चारों दिशाओं में व्याप्त रत्नादि सम्पूर्ण पदार्थ स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं—

"अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपरस्थानम्" (यो.सू.2:37) अस्तेय का वास्तविक तात्पर्य है— "अपना वास्तविक हक खाना, धर्मपूर्वक जो वस्तु जितनी मात्रा में अपने को मिलनी चाहिए उसे उतनी ही मात्रा में लेना एवं अपना नियत कर्त्तव्य पूरा करना। इस भावना का व्यक्ति के उन्नयन एवं उसके द्वारा समाज के उन्नयन में काफी महत्वपूर्ण स्थान है। अनावश्यक इच्छाओं एवं आकांक्षाओं के अभाव में समाज में भ्रष्टाचार की कमी होगी। प्रत्येक व्यक्ति यदि ईमानदारी के साथ अपना कर्त्तव्य पूर्ण करेगा तो समाज का पूर्ण विकास होगा।

अपरिग्रह

आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करना "अपरिग्रह" है। योगी के लिए अपरिग्रह इसलिए आवश्यक है, क्योंकि यदि वह वस्तुओं के संग्रह में ही लगा रहेगा तो उसका जीवन इन्हीं कार्यों में पूरा हो जाएगा। योग साधना के लिए अवसर नहीं मिलेगा। अपरिग्रह का आंशिक प्रयोग सामाजिक सुव्यवस्था की दृष्टि से प्रत्येक सदगृहस्थ व्यक्ति को भी करना चाहिए। इसक अभाव में उपभोग्य सामग्री का किन्हीं विशिष्ट स्थानों, परिवारों आदि में जमाव हो जाना सम्भव रहता है जो साधारण जनता के लिए खुले व्यवहार में वस्तु की कमी को पैदा कर देता है, जिससे समाज में विश्रृंखलता फैलाती है। इसलिए अपरिग्रह का आचरण जीवन की प्रत्येक दशा में अपरिहार्य है। यदि समाज में सब अपनी आवश्यकता के साथ संग्रह करेंगे तो किसी को तंगी नहीं रहेगी व तब संतोष से रहेंगे। अशांति का अन्त होगा।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य का वास्तविक अर्थ—सर्वइन्द्रिय संयम, इन्द्रियों को उनके विकारों से रोकना है। दीर्घ जीवन निरोगता, शरीर की पुष्टता, बुद्धि की प्रखरता आदि शारीरिक लाभों की नींव इन्द्रिय संयम पर ही रखी होती है। शक्तियों का खर्च भोगों में नहीं होगा तो उसके द्वारा शरीर व मस्तिष्क बलवान हो सकेगा अन्यथा जिस प्रकार वृक्ष की जड़ों में कीड़े लग गए हों, वह निर्बल व अल्पजीवी ही होगा। यही बात मनुष्यों की है। असंयम के कारण इन्द्रिय भोगों में जिसकी शक्ति अधिक खर्च होती रहती है वह न तो शारीरिक दृष्टि से बलवान, निरोग व दीर्घजीवी हो सकता है और न मानसिक दृष्टि से मेधावी व प्रभावशाली हो सकता है।

उपरोक्त पंच महाव्रत व्यक्ति को उन्नत स्तर पर पहुंचाने में सहायक होते हैं। ये मानव के मौलिक कर्त्तव्यों की सूची हैं और व्यक्ति को नैतिक विकास की चरम सीमा पर अधिष्ठित करने में सहायक है।

2. नियम

बाह्य शरीर व मन की शुद्धि के लिए किए जाने वाले अनुष्ठान नियम हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान ये पांच प्रकार के नियम हैं। शौच का तात्पर्य है पवित्रता। इसके दो भेद हैं बाह्य व अभ्यान्तर। जल आदि से शरीर, वस्त्र एवं निवास स्थान को शुद्ध स्वच्छ रखना तथा शुद्ध आहार का सेवन करना बाह्य शुद्धि है। मल अर्थात् चित्त के मलों ईर्ष्याद्विष राग आदि का प्रक्षालन करना। इन मलों को चित्त में न उभरने देना, उभरने पर उन्हें तत्काल दूर करने का प्रयास करना अभ्यान्तर शौच है। शौच से शुद्धाचरण में सहायता व रोगादि का निवारण होता है। शरीर की सफाई का मन पर असाधारण प्रभाव पड़ता है। स्वच्छ शरीर में ही स्वच्छ मन का निवास होता है। सात्विक आहार से सतोगुणी वृत्तियां बढ़ती हैं।

कायिक शुद्धि की पूर्णता से चित्त की शुद्धि में महत्वपूर्ण सहयोग प्राप्त होता है। राग-द्वेष आदि चित्त के मलों को उभरने का अवसर समाप्त हो जाता है। अंतःकरण स्वच्छ व निर्मल हो जाता है। दूसरे जप एवं ध्यान में एकाग्रता आ जाती है।

संतोष

संतोष का तात्पर्य है जीवन निर्वाह के लिए जो अपेक्षित साधन हैं उन्हीं से अपना काम चलाना। लोभ से प्रेरित न होना। मन की शांति के लिए संतोष का भाव अत्यन्त आवश्यक है। "संतोष परमं सुखम्" की भावना हमारी आध्यात्मिक विरासत रही है। आनन्दित रहना एवं दुखदायी परिस्थिति में खिन्न न होना एक ऐसा उच्च आध्यात्मिक गुण है जो पर्वत के समान विपत्ति को राई का हल्का बना देता है और नसों में उत्साह का संचार करता है। संतोष की भावना से युक्त व्यक्ति समाज के लिए दूसरे के हितों पर कुठाराघात नहीं करता है। लोभ, मोह से बचा रहता है।

तप

तप का अर्थ धूप या अग्नि के सामने गरम होना नहीं है, वरन् अपने कषाय-कल्मषों का दमन करना है। शीतोष्ण, सुखदुखादि द्वन्द का सहन करते हुए नियमित व संयमित जीवन व्यतीत करना तथा स्मरण व प्रतिरोध भावना आदि से जो उद्वेग चित्त में उभरते हैं, उनको साहसपूर्ण दृढ़ता से एवं उसे तपस्या समझकर सहन कर जाना, ऐसा करने से उद्वेग कम हो जाते हैं। अनुष्ठान, मंत्र, जाप, उपवास आदि के द्वारा अशुद्धि का नाश भी तप है। तप के प्रभाव से शरीर व इन्द्रियों के मल का नाश हो जाता है और शरीर स्वच्छ व स्वस्थ हो जाता है। तप के तीन प्रकार हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक। देवता, ब्राह्मण, गुरु एवं माता-पिता आदि बृद्धजनों तथा विद्वानों की पूजा करना कायिक तप है। अध्ययन के अनुरूप आचरण करना, दूसरे के अंतःकरण में उद्वेग पैदा न करने वाले, सत्य भाषण को वाचिक तप कहते हैं। मन को प्रसन्न रखना अंतःकरण में विवाद को न आने देना, सौम्य, शांत सरलस्वभाव से सद्व्यवहार करना, मुनियों के समान मन को संयत करते हुए कार्य करना यह—मानस तप है। तप के प्रभाव से असम्भव प्रतीत होने वाले कार्यों में भी सफलता प्राप्त हो जाती है, शारीरिक व मानसिक शक्ति में वृद्धि होती है, शारीरिक व मानसिक शक्तियों से परिपूर्ण व्यक्ति निश्चित रूप से समाज व देश के लिए उपयोगी व लाभकारी होता है। तप से प्राप्त होने वाले फल को सूत्रकार ने बताया है—

"कायोन्द्रियासिद्धिरशुद्धिक्षयान्यसः (यो.सू. 2:43)

तप के द्वारा अशुद्धि का क्षय होने से शरीर और इन्द्रियों की शुद्धि से शरीर व इन्द्रियां योगाभ्यास के लिए अनुकूल हो जाती हैं।

स्वाध्याय

स्वाध्याय से तात्पर्य है अध्ययनशीलता जैसे वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करना, इनसे मन की शुद्धि होती है और सन्मार्ग एवं सद्प्रवृत्तियों की दिशा को जानने व समझाने में सहायता मिलती है। आत्मोशांति के लिए अपने बारे में पढ़ना व चिन्तन करना अनिवार्य है। बिना इसके प्रगति नहीं हो

सकती है। आत्मोन्नति अपनी निजी विवेचना, इच्छा, उत्कंठा एवं प्रयत्नशीलता द्वारा ही हो सकती है। अतः सद्ग्रंथों के अध्ययन द्वारा आत्मशोधन करना चाहिए। इससे व्यक्ति में सत्य-असत्य एवं उचित-अनुचित में अंतर करने की क्षमता का विकास होता है। समाज में सुव्यवस्था लाने के लिए इन गुणों का होना आवश्यक है।

ईश्वर प्राणीधान

ईश्वर प्राणिधान योग का अत्यन्त आवश्यक अंग है। इसका तात्पर्य है ईश्वर को भक्तिपूर्वक अपने सब कर्म समर्पित करना। ईश्वर की शरण में चले जाने पर सभी विघ्नों का नाश स्वतः ही हो जाता है। गीता में इसी भाव को व्यक्त करते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने उद्घोषण की है—

सर्वधर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज,
अहं त्वां सर्वयामेभ्यो मोक्षपिष्यामि मा शुचः।
(गीत 18 : 66)

इस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति भय व चिन्तारहित हो जाता है। यह उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है। चिन्ता, भय, व विषाद से रहित व्यक्ति समाज के लिए भी उपयोगी होता है। मन मन्दिर में ईश्वर स्थापना कर लेने के बाद मनुष्य सत्कर्मों में ही प्रवृत्त रह सकता है। अपने अन्दर सात्विक गुणों को ही स्थान दे सकता है।

महर्षि पातंजलि ने अष्टांग योग में यम व नियम को सर्वप्रथम स्थान दिया है। यम व नियम के पालन करने का अर्थ मनुष्यत्व का सर्वतोन्मुखी विकास है। यम व नियम के अन्तर्गत आने वाले भाव उच्च चरित्र निर्माण के प्रतीक स्वरूप हैं। उपरोक्त भावों से प्रतिष्ठित होने पर व्यक्ति का स्वयं का चारित्रिक उत्थान होता है तथा इन गुणों से विभूषित व्यक्ति द्वारा समाज का भी उत्थान होता है।

3. आसन

भारतीय योगाभ्यास का मुख्य उद्देश्य आत्मा को ऊंचा उठाना और विभिन्न साधनों द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त करना कहा गया है। पर उसके अंगों में से दो ऐसे माने जाते हैं जो आध्यात्मिकता के साथ भौतिक लाभ भी प्रदान करते हैं वे हैं—आसन व प्राणायाम। आसन से अभिप्राय शरीर की साधना है—अर्थात शरीर को ऐसी अवस्था में रखना चाहिए जिसमें बहुत देर तक एक ही स्थिति में सुखपूर्वक स्थिर रहा जा सके। स्वास्थ्य विद्या विशारदों ने इन क्रियाओं को शारीरिक अंगों का ठीक दशा में रखने के लिए बहुत लाभदायक पाया है।

शारीरिक व्यायाम जहां केवल अंग प्रत्यंगों को ही मजबूत बनाते हैं वहां आसन और प्राणायाम का अभ्यास मन व मस्तिष्क को भी प्रभावित करता है। आसनों द्वारा हत्य वहा और केत्य वहा तड़ित शक्ति क्रियाशील रहती है। मर्मस्थल वे हैं जो अतीव कोमल हैं और प्रकृति ने उन्हें इतना सुरक्षित बनाया है कि साधारणतः उन तक बाहय् प्रभाव नहीं पहुंचता है। आसनों से इनकी रक्षा होती है। इन मर्मों की सुरक्षा में यदि किसी प्रकार की बाधा पड़ जाय तो जीवन संकट में पड़ सकता है। ऐसे मर्म स्थान उदर व छाती के भीतर स्थित हैं। सिर व धड़ में रहने वाले मर्मों में "हब्य-वहा" नामक धन (पोजेटिव) विद्युत का निवास और हाथ पैरों में कव्य वहा ऋण (निगेटिव) विद्युत की विशेषता है। दोनों का संतुलन बिगड़ जाय तो लकवा, सन्धिवात नामक भीषण रोग हो जाते हैं। इन रोगों का कारण यह है कि साधारण परिश्रम या व्यायामों द्वारा इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। औषधियों की वहां पहुंच नहीं होती। शल्य क्रिया या इन्जेक्शन भी उनको प्रभावित करने में समर्थ नहीं होते। इस विकट गुत्थी को सुलझाने में केवल योगासन ही ऐसे तीक्ष्ण अस्त्र हैं जो मर्मशोधन में अपना चमत्कार दिखलाते हैं।

आसनों के द्वारा श्वसन क्रिया पर नियंत्रण रखा जाता है। इससे फेफड़ों की क्रिया उत्तम रीति से होने लगती है और उनकी शक्ति बढ़ती है। आसनों के द्वारा हमारे शरीर के भीतर उन ग्लैण्डस् का प्रभाव पड़ता है जिनसे कई प्रकार के रस निकलकर स्वास्थ्य को ठीक रखते हैं। यदि ये ग्रंथियां अपना कार्य उचित रीति से न करें तो हमारा रक्त संचालन दोषपूर्ण हो जाएगा और हमारा स्वास्थ्य ठीक न रह सकेगा। आसनों द्वारा स्नायु संचालन भी होता है। स्वास्थ्य की दृष्टि से स्नायुओं व नसों का बड़ा महत्व है। उनके शुद्ध रहने से ही हमारे शरीर में रक्त अभिसरण ठीक ढंग से हो सकता

है। रक्त के अभिसरण से सब अंगों को आवश्यक पोषण मिलता है और अशुद्ध पदार्थ बहाकर शरीर से बाहर निकाल दिए जाते हैं। रोग का मूल कारण किसी भी गलत अभ्यास या हानिकारक आदत के द्वारा इन रक्तवाहिनी नसों को मलयुक्त बना देना ही है। जब ये नसें विजातीय पदार्थ से भर जाती है तो उनमें रक्त का संचार कम या रुककर होता है और शरीर में रोग उपज जाते हैं। नसों की सफाई का श्रेष्ठतम तरीका आसन व्यायाम ही है। आसनों द्वारा स्नायुओं में खिंचाव उत्पन्न करके फिर उनको अन्य आसनों के द्वारा शिथिल करने से वे स्वयं ही अपनी सफाई करने लगते है।

आसनों के द्वारा मर्मस्थलों के शोधन के साथ ही शरीर के स्नायुओं का ढीलापन भी होता है। चिन्ता, भावुकता, कुंठा आदि परेशानियां हमारे स्नायुओं को कमजोर बना देती हैं ओर उनकी कमजोरी के कारण गठिया, कब्ज, अनिद्रा, रक्तचाप, हृदय रोग आदि उत्पन्न हो जाते हैं। आसनों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये स्नायविक दुर्बलता को दूर करते हैं और स्नायविक दुर्बलता, समाप्त हो जाने से इस प्रकार के रोग आदमी के पास फटकते नहीं हैं। विभिन्न प्रकार के आसन शरीर के विभिन्न अंगों को प्रभावित करते हैं। जैसे पाद हस्तासन से शरीर के सभी अंगों की पेशियों पर खिंचाव पड़ता है और उनका व्यायाम होता है। धनुरासन पेट की पेशियों को विशेष रूप से प्रभावित करता है। इससे पाचन शक्ति ठीक होती है और बढ़ती है। शरीर के दूसरे अंगों की पेशियां भी इस आसन से खिंचती हैं अतः शरीर सुडौल बनता है। सर्वगासन से शरीर के सब अंगों का व्यायाम हो जाता है और इससे देह में रक्त संचार की गति बढ़ती है। श्वासन से शरीर की पेशियों व स्नायु मंडल का तनाव दूर होता है। शिथिलीकरण के इस आसन से शरीर ताजा व हल्का हो जाता है। आधुनिक युग में आसनों के महत्व को देखते हुए वैज्ञानिक इनके लाभों पर शोध कर रहे हैं। यद्यपि पुरातन काल में इनका उद्देश्य चक्र, शरीर के सूक्ष्म शक्ति केन्द्रों पर दबाव डालकर उनमें सन्निहित अतिन्द्रिय क्षमताओं एवं दिव्य साध्यों को जागृत एवं विकसित करना था किन्तु विज्ञान क्षेत्र में काया को ही प्रधानता मिलने के कारण उसके सहारे स्वास्थ्य रक्षा के लिए प्रयत्न किया गया है। आधुनिक स्वास्थ्य विधा विशारदों ने योगाभ्यास परक आसन व्यायामों को शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभदायक पाया है। अनेक स्कूल, कालेजों में विद्यार्थियों, खिलाड़ियों एवं अन्तरिक्ष वैज्ञानिकों को उनका सामूहिक रूप से अभ्यास कराया जाता है। भारत के अतिरिक्त यूरोप और अमेरिका के कितने ही महाविद्यालयों में इस सम्बन्ध में अनुसंधान चल रहा है। विद्यार्थियों को नियमित योगाभ्यास कराया जाता है।

4. प्राणायाम

योगाभ्यास का चौथा अंक श्वास पर नियंत्रण रखना है। शास्त्रोक्त विधि से अपने स्वाभाविक श्वास व प्रश्वासों को रोक लेना प्राणायाम कहलाता है। वैसे श्वास व प्रश्वास नियमित रूप से बिना व्यवधान के सदा चलते रहते हैं, पर ऐसा चलना प्राणायाम का स्वरूप नहीं है। प्राणायाम तभी होता है जब श्वास प्रश्वास की स्वाभाविक गति में विच्छेद एक प्रकार की रुकावट या अंतर डाला जाय। इस प्रक्रिया में श्वास प्रश्वास रूप प्राण बंद न होकर उसका आयाम विस्तार होता है। इसमें श्वास व प्रश्वास का काल देर तक रहता है। इसलिए इस क्रिया का नाम प्राणायाम है। प्राणायाम के प्रमुख तीन भाग हैं—1. पूरक 2. कुंभक 3. रेचक। नाक से सांस खींचने को पूरक, रोकने को कुंभक व छोड़ने को रेचक कहा जाता है। स्वाभाविक प्राण वायु जहां चल रहा है। वही उसको रोकने का प्रयोग शुद्ध कुंभक कहलाता है। व्यायाम के क्षेत्र में फेफड़े को मजबूत बनाने के लिए गहरी सांस लेने का विधान है और इसकी शरीर शास्त्रियों ने कई विधियां बताई हैं। हल्की सांस लेने से फेफड़े सम्बन्धी रोग हो जाते हैं, क्योंकि फेफड़ों के पूरे भाग को पर्याप्त मात्रा में ऑक्सीजन नहीं मिल पाता है।

आध्यात्म क्षेत्र में प्राणायाम का तात्पर्य जीवनी शक्ति का संवर्धन है। प्राण एक ऐसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म और विश्वव्यापी मूलभूत तत्व है जो बड़े पिंड से लेकर छोटे से छोटे अणु में भी पाया जाता है। भारतीय आध्यात्म विज्ञान वेत्ताओं ने बड़े प्रयत्न व अन्वेषण के उपरान्त उस मार्ग को ढूंढ़ निकाला है जिसके द्वारा उस विश्वव्यापी

जीवनदायी प्राण-शक्ति को हम अपने अन्दर प्रचुर मात्रा में भर सकते हैं और उसके प्रभाव से उत्तम स्वास्थ्य, दीर्घ जीवन, चैन्यता, क्रिया शक्ति, मानसिक तीक्ष्णता आदि नाना प्रकार की शक्तियां प्राप्त कर सकते हैं। प्राणायाम विधि के अनुसार जव सास प्रश्वास क्रिया होती है तो वायु में से प्राण को खींचकर उसे शरीर में स्थापित किया जाता है। प्राणायाम से चित्त एकाग्र होता है एवं अविद्या का अंधकार दूर होकर ज्ञान की ज्योति प्रकट होती है—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। (यो.सू. 2:52)

स्वास्थ्य के साथ-साथ प्राणायाम आत्मोन्नति का भी एक महत्वपूर्ण व उपयोगी साधन है। इससे प्राण साधना के साथ ही साथ चित्त की एकाग्रता, स्थिरता, दृढ़ता व मानसिक गुणों का विकास होता है। ऐसा गुणों से युक्त व्यक्ति अपने साथ ही दूसरे के लिए भी उपयोगी होता है।

5. प्रत्याहार

यम, नियम, आसन व प्राणायाम के द्वारा शारीरिक व मानसिक स्वस्थता आती है। बाहरी साधना के पश्चात् भीतरी साधना का नम्बर आता है। प्रत्याहार से लेकर समाधि तक सारी साधना एक ही है। प्राचीन शास्त्रों में इस सम्पूर्ण प्रणाली के लिए संयम शब्द प्रयोग में लाया जाता है। प्रत्याहार का तात्पर्य है अपने कुविचारों व कुसंस्कारों को दूर करना एवं दुर्गुणों को मार भगाना। दुर्वलताओं एवं दुर्भावनाओं को यदि समय पर दूर नहीं किया जाता है तो वे दिन प्रतिदिन अधिक गहराई तक जड़ पकड़ती चली जाती है। उन्हें संकल्पपूर्वक हटाना आवश्यक होता है। विषयों की ओर से इन्द्रियों को हटाकर चित्त में अवस्थित कर देना ही प्रत्याहार है। प्रत्याहार के अभ्यास से इन्द्रियां विषयों से विमुख होकर चित्त का अनुसरण करती हैं। सामान्य स्थिति में इन्द्रियां स्वेच्छाचारी होती हैं। जहां चाहती हैं मन को दौड़ाया करती हैं। प्रत्याहार के अभ्यास से इन्द्रियां मन के कव्जे में आ जाती हैं। मन जैसे चाहता है वैसे इन्हें काम में लगाता है। संसार में रहते हुए भी साधक सांसारिक विषयों से तटस्थ रहता है। इसके लिए दृढ़ इच्छा शक्ति की आवश्यकता होती है। प्रत्याहार के अभ्यास मन की निर्बलता शरीर की आरोग्यता और समाधि में प्रवेश करने की चित्त की योग्यता प्राप्त होती है। प्रत्याहार के अभ्यास से उच्चतर चेतना का विकास होता है। व्यक्ति अपने आन्तरिक व बाह्य जीवन में शान्ति व आनन्द का अनुभव करता है। अपने अंतर में सद्ज्ञान का विकास होने से व्यावहारिक जीवन में समन्वय संतुलन स्थापित करने में सुगमता होती है।

6. धारणा

प्रत्याहार अधूरा है यदि उसके बाद धारण का प्रयत्न न किया जाए। कुविचारों का त्याग करके उनके स्थान पर उत्तम विचारों की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। मन में ऐसे विचारों को स्थान देना चाहिए जिनके द्वारा मनोवांछित स्थिति को प्राप्त किया जा सके। जैसे ही कोई कुविचार उठे उसे दवाकर उसके स्थान पर अच्छे भावों को प्रतिष्ठित करने का प्रयास करना ही धारणा है।

7. ध्यान

धारणा द्वारा नियत लक्ष्य में रुचि उत्पन्न की जाती है और ध्यान द्वारा उसमें तन्मय होने का प्रयास किया जाता है। प्रत्याहार और धारणा से मन इतना संयमित हो जाता है कि उसे नियत विषय पर बिना अधिक कठिनाई के लगाया जा सकता है। सारी सुध-बुध खोकर किसी विषय में तन्मय हो जाना ध्यान है। ध्यान द्वारा मन सब ओर से खींचकर एक केन्द्र विन्दु पर एकाग्र होता है, बिखरी हुई चित्तप्रवृत्तियां एक जगह सिमट जाती है।

ध्यान की प्रक्रिया एकाग्रता साधन के लिए की जाने वाली कसरत की तरह है। भौतिक सफलता एवं आत्मिक प्रगति के लिए एकाग्रता की आवश्यकता होती है। जितने भी विद्वान, लेखक, कृति, वैज्ञानिक एवं नेता आदि हुए हैं उन्होंने मन की एकाग्रता से ही कार्य किया है। योगी जन इस शक्ति द्वारा अपने अन्दर की प्रसुप्त शक्ति को जगाते हैं।

ध्यान का शरीर व मन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। आधुनिक युग में मानसिक शांति प्राप्त करने एवं तनावों से मुक्ति पाने के लिए मनोचिकित्सक दवाओं की अपेक्षा ध्यान पर अधिक महत्व दे रहे हैं। ध्यान की प्रक्रिया आंतरिक ऊर्जा की अभिवृद्धि करने एवं चेतना के विकास

के लिए बहुत उपयोगी है। वेदना का मुख्य कारण निराशा एवं आत्मविश्वास की कमी होती है। योग के अभ्यास से ज्यादा विश्वास उत्पन्न होकर जीवनी शक्ति का विकास होता है जिसके फलस्वरूप निराशा, दुख एवं अन्तर्वेदना पर नियंत्रण पा सकना संभव हो जाता है। तनाव, दुख व निराशा की स्थिति समाज में विघटन को जन्म देती है। योगाभ्यासों द्वारा मन की कमजोरियां दूर होकर अन्दर की प्रसुप्त शक्तियां भी शनैः शनैः विकसित होती हैं।

8. समाधि

अष्टांक योग का महत्वपूर्ण सोपान है समाधि। समाधि में दो पद हैं—एक सत्र, दूसरा बुद्धि। अर्थात बुद्धि का समभाव में स्थिर होना समाधि है। समाधि एकान्त स्थान में लगाने के साथ-साथ जगत् व्यवहार के साथ भी लगाई जा सकती है यानि बुद्धि को जगत व्यवहार से विक्षिप्त नहीं होने देना। लाभ-हानि, सुख-दुख, मान-अपमान प्रत्येक समय में बुद्धि को सम रखना। समाधि वस्तुतः संतुलित बुद्धि का नाम है। इसे गीता में स्थित प्रज्ञ के नाम से संबोधित किया गया है। अपने आप पर यथार्थवादी दृष्टिकोण रखना, अन्तर्मुखी रहना और सांसारिक कर्त्तव्यों को ईश्वर का अनुशासन मानकर करते रहना स्वाभाविक समाधि है। यही अनासक्त कर्मयोग है। इसे अपनाने से सुव्यवस्थित, संतुलित और शालीनतायुक्त मनःस्थिति का निर्माण होता है। ☐☐

द्वारा–डा. जे.सी. दुर्गापाल
लक्ष्मी निवास, दुगालखोला
अल्मोड़ा

संदर्भ ग्रंथ सूची

एच.एन. आरण्य (1964 संस्करण), पातन्जलि योग दर्शन, वाराणसी, मोतीलाल बनारसीदास।
बी. अवस्थी (1968 संस्करण), ए स्टडी ऑफ पातन्जलि योग सूत्रः, वाराणसी, चौखम्भा विश्व भारती।
ए. बीसेन्ट (1932 संस्करण), इंडियन आइडियल्स इन एजूकेशन, फिलास्फी, रिलीजन एण्ड आर्टस, कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस।
डी. ब्रहमचारी (1956 संस्करण) यौगिक सूक्ष्म व्यायाम, नई दिल्ली, धीरेन्द्र योग पब्लिकेशन।
एस.एन.दास गुप्ता (1978 संस्करण), योग एण्ड फिलासफी एण्ड रिलीजन, वाराणसी, मोतीलाल बनारसीदास रिप्रिन्ट।
एस.सी. शुक्ला (1982 संस्करण) इन्टीग्रेशन ऑफ यौगिक फिलासफी एण्ड प्रैक्टिसेस इन दी मार्डन सिस्टम ऑफ इन्डियन एजुकेशन, पी.एच.डी. थीसिस, कुमाऊं यू.. नैनीताल।
सु.दुर्गापाल (1998 संस्करण) सांख्य और योग दर्शन के दार्शनिक, शैक्षिक तथा सामाजिक स्वरूप का विवेचनात्मक अध्ययन, पी.एच.डी. थीसिस, कुमाऊं यू. नैनीताल।
उदयवीर शास्त्री (1994 संस्करण) पातंजलि योगदर्शनम्, विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली 1994।

छात्रों की सृजनात्मक शक्ति के विकास में संगीत शिक्षा की उपादेयता

❑ राजश्री भदोरिया

संगीत समस्त कलाओं में सर्वश्रेष्ठ एवं सूक्ष्मतम मनोभावों की अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम है। संगीतिक कला मन और जीवन के अन्तःसंघर्ष से निकली वेदना से अनेकानेक स्वप्नों व प्रतीकों का भी सृजन करती है। वह कल्पना को अर्जित करती है और पंख खोलकर उड़ने के लिए अनंत आकाश-अवसर प्रदान करती है। संगीत कला अपनी सर्जना की शक्ति से वेदना को स्थानान्तरित करके रस में बदल देती है। यह संस्कृति की संपदा का विस्तार करने में सराहनीय भूमिका अदा कर सकती है।

अथाह में थाह की खोज यह मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्ति है। यह खोज उस अथाह को किसी स्थूल या भौतिक बन्धनों में नहीं बांधती, लेकिन उसे अनुभव कराने हेतु एक स्रोत एवं मार्ग अवश्य प्रशस्त करती है। इसी को सृजनात्मकता की संज्ञा दी जाती है। इस सृजनात्मक शक्ति का विकास छात्रों में शिक्षा के माध्यम द्वारा ही प्रशस्त किया जा सकता है। वर्तमान में शिक्षा के विकास में संगीत शिक्षा छात्रों में सृजनात्मक शक्ति के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है, क्योंकि शिक्षा का मुख्य प्रयोजन मनुष्य के स्वभावगत तथा प्राकृतिक भावों में परिवर्तन एवं सुधार लाकर उनको विकसित करना है। इसी उद्देश्य से आज के विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयां में विज्ञान तथा अन्य विषयों के साथ-साथ कलाओं को विशेष स्थान दिया गया है। इसके आधार पर विद्यार्थी अपने विषय का अध्ययन करने तथा उन्हें समझने के साथ-साथ अपने आपको, अपनी भावनाओं एवं अपने विचारों को भी समझ सके और फिर अपने उन भावों तथा विचारों को अपनी क्षमता एवं योग्यता के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट करने के योग्य हो सके। महात्मा गांधी का कथन है—"शिक्षा से मेरा अभिप्राय बालक एवं मनुष्य के शरीर, मन एवं आत्मा में निहित सर्वोत्तम शक्तियों के सर्वांगीण प्रगटीकरण से है।"

इसी उद्देश्य से ही आज का विद्यार्थी एक अच्छा श्रोता होने के साथ-साथ एक आलोचक भी सकता है। कला के क्षेत्र में विद्यार्थी शास्त्र तथा क्रियात्मक इन दोनों पक्षों का एक साथ अध्ययन कर लेने के पश्चात् कला के वास्तविक मूल्यों का ज्ञान प्राप्त कर उनकी गहराई तक जाने की कोशिश करता है और आत्म विश्लेषण करता है। **अस्तु संगीत कला के माध्यम से छात्रों में आत्म-विश्लेषण की क्षमता पल्लवित होती है।**

प्रगति के प्रति जागरूक विद्यालय में शिक्षक का मुख्य लक्ष्य विषय-वस्तु को आत्मसात कराना नहीं होता है किन्तु इसके विपरीत अधिगम की गत्यात्मक प्रकृति पर अधिक बल दिया जाता है। शिक्षक को केवल संगृहीत ज्ञान के भंडार के कक्ष का केवल लिपिक ही नहीं होना चाहिए अपितु उसे छात्रों के मनोवैज्ञानिक कार्यकलापों का उद्दीयन एवं निर्देशन भी करना चाहिए। महान कार्य यह है कि प्रत्येक छात्र की पृष्ठभूमियों, अभिवृत्तियों, रुचियों तथा क्षमताओं को ढूंढ़ निकाला जाय और तब उस सूचना का उपयोग अधिगमार्थी के बौद्धिक एवं भावात्मक विकास में किया जाए।

स्वेच्छा और मानव-संकल्प का अन्तर्विरोध जीवन का क्षय-व्यय न करें, बल्कि इस अन्तःसंघर्ष से उत्पन्न ऊर्जा उसे समृद्ध, समर्थ और अधिकाधिक सुसंस्कृत बना सके। इसके लिए आवश्यक है कि इस ऊर्जा से **नवनवोन्मेश शालिनी कारयित्री प्रतिभा** नए-नए रूपों, विधाओं, आकृतियों स्वरलयात्मक गीतों, मूर्तियों, अलंकारों, रंग और रेखा से ही सम्बन्धित आकारों, व्यवस्थाओं और संस्थाओं का सृजन करें। इन सबका एक नाम ही कला है। **समस्त कलाओं में संगीत सर्वश्रेष्ठ एवं सूक्ष्मतम मनोभावों की अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम है।** संक्षेप में संस्कृति की दृष्टि से कला भावाभिव्यक्ति के लिए स्वस्थ और सकारात्मक विद्या मानी जा सकती है, धर्म-नीति-दर्शन से भिन्न, परंतु इनमें भी प्राण-तत्व की भांति समाहित है।

अतः मेरी धारणा है कि मन और जीवन के अन्तःसंघर्ष से जो वेदना प्रखर होती है संगीतिक कला इसी वेदना से अनेकानेक स्वप्नों व प्रतीकों का भी सृजन करती है। संगीत कला कल्पना को अर्जित करती है और पंख खोलकर उड़ने के लिए अनंत आकाश-अवसर प्रदान करती है। यदि वेदना को सहन कर लिया जाय तो वह वास्तव में वेदना है, परंतु संगीत कला अपनी सर्जना की शक्ति से वेदना को रूपान्तरित करके रस में बदल देती है। **बाल्मीकि के विषय में प्रसिद्ध है** कि उनका शोक ही श्लोक में बदल गया, जिसका नाम रामायण है जो पूर्णरूपेण गीति काव्य है। इसके अतिरिक्त अन्य उक्तियां भी हैं यथा—

"वियोगी होगा पहला कवि, आह से निकला होगा गान।
उमड़कर आंखों में चुपचाप, वही होगी कविता अनजान॥"

यह सत्य है कि कवियों के काव्योद्गार अर्द्ध-सत्य से अधिक नहीं है। शोक अपने आप श्लोक नहीं बन जाता न वियोग की वेदना से स्वयंमेव कविता बन जाती है। इसके साथ सर्जना की प्रतिभा आवश्यक है। वास्तव में कला की सृष्टि महान स्वप्न होती है, जिसे न कभी किसी ने सुना न देखा। अनदेखे और अनसुने संसार को प्रतीकों में रूपायित करने की क्षमता ही सृजन है।

मन के क्षय व्यय को कला ही सम्भालती है, जिसे हम कलात्मक मनोविनोद कहते हैं। किसी भी कर्मठ संस्कृति के लिए मनोविनोद आवश्यक है। वह मन के लिए उल्लास-विलास, विश्रान्ति, शिथलीकरण आदि के लिए अवसर प्रदान करती है। परंतु **संगीत कला मात्र मनोरंजन से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण, मनोनिर्माण का कार्य करती है।** अर्थात् मानसिकता का निर्माण, उन अनेक तत्वों, भावों, विचारों, मूल्यों और प्रखर अनुभूतियों को प्रदान करना जो सामान्यतः छात्र जीवन में सम्भव नहीं होता, संगीत कला की शिक्षा उसके लिए उचित अवसर प्रदान करती है।

मेरी मान्यता है कि संगीत कला सांस्कृतिक जीवन के लिए अनेक मूल्यों का सृजन करती है इसलिए इसे संस्कृति का हृदय माना जाना चाहिए। सौन्दर्य का नूतन मनोविज्ञान इस निर्णय पर पहुंचा है कि संगीत जैसी कला की सफल अनुभूति हेतु भावना के अतिरिक्त उत्तम बौद्धिकता अनिवार्य है। अतः संगीत कला द्वारा छात्रों की सृजनात्मकता हेतु अनेक तथ्यों का विकास सम्भव है।

संगीत के सामान्य तत्व और बालक के सर्वांगीण विकास में उनका योगदान

संगीत पूर्वी शैली में हो अथवा पाश्चात्य शैली में, संगीत के सर्जक तत्व हैं स्वर और लय। स्वर लय से सुनिर्मित संगीत समग्र मानव जाति को प्रिय रहा है। स्वयं भगवान को भी संगीत सर्वाधिक प्रिय है तभी तो उन्होंने कहा है—

नाहं वैकुंठे योगिनां ह्दये न चे।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तंत्र तिष्ठामि नारद॥
(संगीत-पारिजात, श्लोक 16)

विश्व के महान दार्शनिकों ने भी संगीत की प्रभावकारी शक्ति को प्रायः एक ही दृष्टिकोण से पहचाना है। **प्लेटो के विचारानुसार** "संगीत के स्वर लय आत्मा के गर्भस्थल तक गूंज जाते हैं, उनकी गतियों में सौन्दर्य और आनंद बंधा रहता है, जो आत्मा को गरिमामय बना देता है।"

बालक के विकास के चार पक्ष हैं—**शारीरिक, बौद्धिक, भावात्मक और आध्यात्मिक।**

1. शारीरिक विकास

शरीर प्रत्यक्ष रूप से हृदय को आनंदित और प्रभावित करता है, किन्तु परोक्ष रूप से यह शरीर को स्फूर्ति प्रदान करता

है। संगीत की साधना व्यक्ति को नियमितता सिखाती है। गायन में स्वरोच्चारण के साथ-साथ प्राणायाम क्रिया स्वतः ही हो जाती है। प्राणायाम को स्वास्थ्य और आयु-वृद्धि के लिए श्रेयस्कर माना गया है। संगीत वादन के अभ्यास में भी साधक का शारीरिक व्यायाम स्वतः ही हो जाता है। संगीत का प्रयोग रोगोपचार के लिए किया जा रहा है, जिसके सफल परिणाम भी सामने आ रहे हैं।

2. बौद्धिक विकास

संगीत का महत्व बौद्धिक विकास की दृष्टि से भी है। संगीत श्रवण में स्वरों का उतार-चढ़ाव, कंठ-स्वरों और वाद्यों की ध्वनियों की पहचान, साथ ही संगीत की लयकारी आदि की पहचान होने के साथ-साथ बालक की निरीक्षण शक्ति, चिंतन शक्ति तथा एकाग्रचित होने की क्षमता का विकास होता है।

संगीत की विविध शैलियों, विविध स्वर शृंगारों को सुनने व पहचानने से बालक की कलात्मक परख सूक्ष्म होती है। जिन धुनों व स्वर सभिवेशों को वह अधिक पसंद करता है, उनको गुनगुनाता है, दोहराता है, याद रख लेना चाहता है। इससे उसकी स्मृति का विकास होता है। कभी-कभी वह उसमें अपनी कल्पना से भी कुछ नया जोड़ने का भी प्रयास करता है। इस प्रकार उसकी विचार शक्ति क्रियाशील होती है। अतः एकाग्रता, ग्रहणशीलता, स्मृति, कल्पना और प्रतिभा के प्रयोग से नवीनता का आविर्भाव होता है, जिससे बालक को उत्तरोत्तर आगे बढ़ने की प्रेरणा भी मिलती है।

3. भावात्मक विकास

स्वत-माधुर्य बालक के हृदय में कोमल भावों का संचार करता है, इससे स्वतः ही नैतिकता आ जाती है। संगीत के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति होती है। लय ताल के नियम से अनुशासन की भावना विकसित होती है। संगीत सुनाने से आत्मविश्वास सुदृढ़ होता है। समूह गान व समूह वादन से एकता और भाईचारे की भावना का विकास होता है। एक दूसरे के प्रति सद्भाव, सहयोग व प्रेम की भावना बढ़ती है। इस प्रकार स्वस्थ भावात्मक विकास के लिए संगीत का योगदान अपरिमेय है।

4. आध्यात्मिक विकास

आध्यात्मिक उत्थान करना मानव-जीवन का परम और चरम लक्ष्य है। आध्यात्मिकता का मूल ध्यान, चिंतन, एकाग्रता और अवधान में है। इस स्तर तक संगीत सहज ही ले आने में सक्षम माना गया है। इसीलिए संगीत को मोक्ष प्राप्ति का साधन भी माना गया है।

संगीत में स्वरितोच्चार व स्वर के ठहराव के साथ ही एकाग्रता और अवधान का अभ्यास हो जाता है। सूक्ष्म स्वरावलियों के माधुर्य से ध्यान-मग्न होने से चिन्तन शक्ति का विकास होता है, और आध्यात्मिकता का मार्ग प्रशस्त होता है। अतः बालक के सर्वांगीण विकास हेतु संगीत एक सफल साधन है, जिसका प्रयोग विश्व में किया जा सकता है।

अन्त में मेरी मान्यता है कि कला के मनोभावों की तुष्टि मनुष्य के सांस्कृतिक, सर्जनात्मक प्रयासों से सम्भव होती है, प्राकृतिक साधनों से नहीं और इसके लिए संगीत कला सबसे सशक्त माध्यम है। संस्कृति के लिए सर्जना उसका प्राण है। कला के क्षेत्र में तो पुनरावृत्ति सम्भव ही नहीं होती। आज तक दूसरे बाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसी, सूर आदि पैदा नहीं हुए हैं। कला अपने क्षेत्र में नूतन का नित्य, निरन्तर सृजन करके मानव-जाति को अनेक मूल्यों की अनुभूति के लिए अवसर प्रदान करती रही है, मूल्यों की इस प्रखर प्रत्यक्ष अनुभूति से मन का निर्माण होना स्वाभाविक है। अर्थात् सृजनात्मक शक्ति का विकास उत्कृष्ट व उच्च स्तर पर आसीन संगीत कला द्वारा सम्भव है, जिसके माध्यम से संगीत कला संस्कृति की सम्पदा का विस्तार करने में सराहनीय भूमिका अदा कर सकती है।

□□

भदावर हाउस, सिविल लाइन्स
आगरा-282002

विद्यालयीय स्तर पर मौलिक कर्त्तव्यों का अनुशीलन

❏ विभा उपाध्याय

अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरे के अन्योन्याश्रित होते हैं क्योंकि सहवर्ती कर्त्तव्य के बिना कोई अधिकार नहीं हो सकता है और सहवर्ती अधिकार के बिना कोई कर्त्तव्य नहीं हो सकता है। शिक्षा को मौलिक अधिकार के रूप में प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को अपने मौलिक कर्त्तव्यों को जानना और उनका अनुपालन करना भी अति आवश्यक है। मौलिक कर्त्तव्यों की शिक्षा विद्यार्थी को सद्व्यवहार व सदाचार का आधार तो प्रदान करती ही है उसे मन और आत्मा की उज्जवलता भी प्रदान करती है। यह उज्जवलता विद्यार्थी को ऐसा प्रकाश देती है जिससे वह अपने साथ-साथ सभी का हित साधन कर सकता है।

संविधान जीवन का वह मार्ग है जिसे कोई भी देश अपने लिए अपनाता है। प्रत्येक देश का किसी-न-किसी रूप में संविधान अवश्य ही होता है और संविधान का यह रूप देश की परिस्थितियों के अनुसार होता है। भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतान्त्रिक देश है। इसका भी अपना एक संविधान है। इसे विश्व का सबसे बड़ा और विस्तृत संविधान माना गया है। यह 26 नवम्वर 1949 को बनकर तैयार हुआ। इसी दिन इसके आंशिक भाग को लागू करवाया गया और सम्पूर्ण संविधान 26 जनवरी 1950 से लागू किया गया। भारतीय संविधान की प्रस्तावना हम भारत के लोग ..... इसके उद्देश्यों को परिलक्षित करती हैं।

लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था में मूल अधिकारों की घोषणा संविधान की एक प्रमुख विशेषता होती है। व्यक्ति के बहुमुखी विकास के लिए जिन अधिकारों की आवश्यकता होती है, उन्हें मूल अधिकार कहते हैं। अतः भारतीय संविधान के भाग 'तीन' में नागरिकों के मूल अधिकारों की घोषणा की गई है।

भारतवर्ष का अनादिकाल से कर्त्तव्योन्मुखी समाज रहा है। वेद एवं पुराण कर्त्तव्यपरायणता का सन्देश देते हैं। भगवद्गीता का मूल सन्देश है "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचनः"। ऐसे देश के संविधान में प्रारंभ में कर्त्तव्यों को समाविष्ट नहीं किया गया था। इसके पीछे संविधान निर्माताओं का पवित्र उद्देश्य सम्भवतः यही रहा होगा कि भारत जैसे देश में कर्त्तव्यों का उल्लेख करना आवश्यक नहीं है क्योंकि इसका अनुपालन तो प्रत्येक भारतीय स्वप्रेरणा से करता है। परंतु समय के परिवर्तन के साथ कर्त्तव्यों का भी उल्लेख किए जाने की आवश्यकता महसूस की गई क्योंकि अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरे के अन्योन्याश्रित होते हैं। अधिकार और कर्त्तव्य एक ही नियम और घटनाओं के भिन्न-भिन्न पहलू हैं। अतएव यह अपेक्षा की जाती है कि प्रत्येक विधिक व्यवस्था को अधिकारों और कर्त्तव्यों दोनों पर आधारित होना चाहिए, क्योंकि ये दोनों परस्पर स्थिरांक हैं।

विधिशास्त्रियों के एक वर्ग का मानना है कि अधिकार और कर्त्तव्य को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। इस विचार के समर्थकों का मानना है कि सहवर्ती कर्त्तव्य के बिना कोई अधिकार नहीं हो सकता है और सहवर्ती अधिकार के बिना कोई कर्त्तव्य नहीं हो सकता है।

कुछ विधिशास्त्रियों ने अधिकार को केन्द्र विन्दु मानकर विधि की व्याख्या की है। लाक ने पूर्ण अधिकार की बात की है। जबकि विधिशास्त्रियों का एक वर्ग विधि के विश्लेषण में अधिकारों की कोई भूमिका नहीं स्वीकार करता है। इसमें कर्त्तव्य को ज्यादा मौलिक एवं अधिकार से पूर्ववर्ती माना गया है। कर्त्तव्य पर आधारित व्याख्या के प्रमुख विधिशास्त्री एम. ड्यूगिट हैं। ड्यूगिट के अनुसार "प्रत्येक व्यक्ति" का सभी के प्रति कर्त्तव्य है, परंतु किसी व्यक्ति का उचित रूप में कहा जाने वाला कोई अधिकार नहीं है। हमेशा अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने के अधिकार को छोड़कर किसी भी व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं है।

वर्तमान समाज में अधिकार और कर्त्तव्य दोनों का समन्वय होना चाहिए। फिर भी यह बात सही है कि यदि कर्त्तव्य का सभी लोग सही रूप में निर्वहन करें तो दूसरों के अधिकार अच्छी तरह से सुरक्षित हो सकते हैं। महात्मा गांधी कहा करते थे कि अधिकारों का वास्तविक स्रोत कर्त्तव्य है।

उल्लेखनीय है कि भारतीय संविधान में मूल कर्त्तव्यों का समावेश संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा भाग 4-क को जोड़कर किया गया है। संविधान संशोधन समिति का यह विचार था कि जहां संविधान में नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लेख किया गया है, वहां मूल कर्त्तव्यों का भी समावेश होना चाहिए। प्रस्तुत संशोधन संविधान में इसी कमी को दूर करने के लिए पारित किया गया है। नये अनुच्छेद 51(क) के अनुसार भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य होगा कि वह—

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्र ध्वज और राष्ट्रगान का आदर करें,

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोये रखें और उनका पालन करे,

(ग) भारत की प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण रखे,

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे,

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हैं,

(च) हमारी सामाजिक संस्कृति की गौरवशाली परम्परा का महत्व समझे और उसका परिरक्षण करे,

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की जिसके अन्तर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणि मात्र के प्रति दयाभाव रखे,

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे,

(झ) सार्वजनिक सम्पत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे,

(न) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे जिससे राष्ट्र निरन्तर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊंचाइयों को छू ले।

इस उपबन्ध के द्वारा जापान, इटली, सोवियत रूस, चीन और अन्य यूरोपियन देश के संविधानों की भांति भारतीय संविधान में भी अधिकारों के साथ कर्त्तव्यों का भी उल्लेख कर दिया गया है।

मूल कर्त्तव्यों सम्बन्धी इस व्यवस्था की प्रमुखतया दो अधारों पर आलोचना की जाती है—

- ☐ कर्त्तव्यों के उल्लंघन पर दण्ड की व्यवस्था नहीं—संसार के अनेक देशों के संविधानों में ऐसी व्यवस्था है कि नागरिक मूल कर्त्तव्यों का पालन नहीं करेंगे, तो उन्हें मूल अधिकारों से तथा नागरिकता से भी वंचित कर दिया जाएगा। किन्तु भारतीय संविधान में मूल कर्त्तव्यों का उल्लंघन किए जाने पर दण्ड की व्यवस्था नहीं की है।
- ☐ भाषा की अस्पष्टता—संविधान में वर्णित कई मूल कर्त्तव्यों की भाषा अस्पष्ट है। उदाहरण के लिए, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद, ज्ञानार्जन, सुधार की भावना और सामाजिक संस्कृति की गौरवशाली परम्परा आदि ऐसी बातें हैं, जिनकी व्याख्या लोग अपनी-अपनी विचारधारा एवं मान्यता के अनुसार मनमाने रूप से कर सकते हैं।

शिक्षा जीवन की बुनियाद है। शिक्षक और शिक्षार्थी उस बुनियाद की नींव के पत्थर हैं। जीवन में मूल्यों-मानों, नैतिकताओं, सभ्यता और संस्कृतियों का निवास करते हुए युगानुकूल विकास के द्वारा जहां नवमूल्यों की प्रतिष्ठा करनी है, वहीं शाश्वत मूल्यों का पोषण एवं सम्वर्द्धन करना है।

शिक्षा जगत में आज इस बात की आवश्यकता है कि शिक्षक और शिक्षार्थी न सिर्फ मूलभूत कर्त्तव्यों को जानें अपितु व्यवहार में उनका अनुपालन भी करें। कर्त्तव्योन्मुख समाज की स्थापना हेतु यह परम आवश्यक है कि प्रत्येक बालक को इसके विषय में पूरी जानकारी दी जाए। भारत की अधिकांश जनता निरक्षर है और उन्हें संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों और कर्त्तव्यों का कोई ज्ञान नहीं है। अतएव उच्चतम न्यायालय ने मोहिनी जैन बनाम कर्नाटक राज्य (1993) के वाद में कहा कि शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार अनु. 21 के तहत प्रत्येक नागरिक का मूल अधिकार है। जबकि उन्नीकृष्णन के वाद में इसे 14 वर्ष तक के बालकों तक सीमित कर दिया गया। अतः विद्यालयों में शिक्षा को मौलिक अधिकार के रूप में प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को अपने मौलिक कर्त्तव्यों को जानना और उनको अनुपालित करना भी आवश्यक है।

मौलिक कर्त्तव्यों का ज्ञान व्यक्ति में सहज मानवीय गुणों को उजागर करने में निश्चय ही बहुत अधिक सहायक हो सकता है। मौलिक कर्त्तव्यों की शिक्षा व्यक्ति को सद्व्यवहार, सदाचार का आधार तो प्रदान करती ही है, उसे मन और आत्मा की उज्जवलता भी प्रदान करती है। यह उज्जवलता ही विद्यार्थी को वह प्रकाश देती है जिससे वह अपने साथ-साथ सभी का हित साधन कर सकता है। अतः इस सम्वन्ध में विद्यालयों में कुछ कारगर उपाय अपनाए जा सकते हैं जिनके माध्यम से इस सांविधानिक एवं नैतिक लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव हो सके। कुछ प्रमुख उपाय इस प्रकार हैं—

- **कला-शिक्षण** – विद्यालय में कला शिक्षण के दौरान प्रत्येक अध्यापक-अध्यापिका का यह कर्त्तव्य है कि वह बच्चों को इन कर्त्तव्यों के बारे में जानकारी दें। कर्त्तव्य पालन के महत्व एवं आवश्यकता को स्पष्ट करें तथा इसके अनुपालन से होने वाले लाभों का भी जिक्र करें।
- **सांस्कृतिक कार्यक्रमों के माध्यम से** – विद्यालय में आयोजित होने वाले सांस्कृतिक कार्यक्रमों में झलकी के माध्यम से कर्त्तव्य पालन की प्रस्तुति करवायी जानी चाहिए। लघु-नाटिकाओं में बालकों को प्रेरित करने की आकर्षक शक्ति होती है। अतएव ऐसी लघु नाटिकाओं में भी कर्त्तव्य-पालन की महत्ता का स्पष्टीकरण करते हुए उसके पालन पर जोर देना चाहिए।
- **पाठ्येत्तर क्रिया-कलापों के माध्यम से** – विद्यालय में शिक्षण-कार्य के अतिरिक्त एक पीरियड पाठ्येत्तर क्रिया-कलापों का होना चाहिए। इस अवधि में कर्त्तव्योन्मुख शिक्षण पद्धति को अनुपालित करते हुए बच्चों में परिचर्चाएं आयोजित करवानी चाहिए। समूह-चर्चा के माध्यम से इस पर बल देने का प्रयास करना चाहिए। इसके अतिरिक्त निबन्ध लेखन एवं वाद-विवाद प्रतियोगिताओं का आयोजन करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि ऐसे विषय चुने जाएं जिनमें दायित्व बोध का प्रश्न छुपा हो। प्रत्येक विद्यार्थी अपने दायित्व को समझते हुए अपने विचारों को मौलिक रूप से व्यक्त करे ताकि कर्त्तव्य का अनुपालन एक सहज क्रिया के रूप में स्वीकार्य हो।
- **प्रदर्शनी के आयोजन द्वारा** – विद्यालयों में समय-समय पर बच्चों द्वारा निर्मित पोस्टरों, उनके द्वारा लिखित नारों इत्यादि की प्रर्दशनी लगवाई जानी चाहिए। इसमें श्रेष्ठ कृति को पुरस्कृत कर उत्साहवर्धन का प्रयास भी करना चाहिए।
- **सूचना पट्ट पर अंकन द्वारा** – सूचना पट्ट के एक ओर सभी मौलिक कर्त्तव्यों का उल्लेख किया जाना चाहिए एवं इनमें से एक-एक कर्त्तव्य की विस्तृत व्याख्या प्रार्थना सभा के दौरान होनी चाहिए। राष्ट्रगान करने के पहले अथवा बाद में राष्ट्रगान के उद्देश्यों को स्पष्ट करना चाहिए।

- **चिन्हों की पहचान** – प्रत्येक विद्यार्थी को राष्ट्रीय धरोहरों की पहचान कराने के लिए विद्यालयों में पोस्टर इत्यादि लगवाए जाने चाहिए। जैसे—राष्ट्रीय ध्वज में प्रयुक्त रंगों का क्या सन्देश है? और ध्वज के बीचोंबीच उल्लिखित चक्र क्या शिक्षा देता है इसकी सूक्ष्म व्याख्या भी करनी चाहिए।
- **अनौपचारिक प्रक्रिया** – अनौपचारिक तरीके से जैसे, वार्तालाप के दौरान भी कर्त्तव्योन्मुख दृष्टिकोण को अपनाने की भावना प्रस्फुटित होनी चाहिए।
- **मौलिक कर्त्तव्य दिवस आयोजन** – 3 जनवरी का दिन मौलिक कर्त्तव्य दिवस के रूप में जाना जाता है। अतः प्रत्येक विद्यालय में 3 जनवरी के दिन मौलिक कर्त्तव्यों के महत्त्व एवं आवश्यकता पर केन्द्रित कार्यक्रमों का आयोजन करना चाहिए तथा मौलिक कर्त्तव्य दिवस में सन्निहित उद्देश्यों से विद्यार्थियों को अवगत कराना चाहिए।

स्पष्ट है कि इन पद्धतियों के अनुपालन के द्वारा बहुत हद तक मौलिक कर्त्तव्यों के प्रति जागरूकता का संचार किया जा सकता है। □□

डी-52/69, लक्ष्मी कुंड
लुक्सा रोड, बनारस

एकीकृत शिक्षा के संदर्भ में नियमित शिक्षकों की वांछित भूमिका

❑ सुजाता साहा

विकलांगता के अभिशाप से ग्रस्त बालक-बालिकाओं को सर्वतोमुखी विकास के अवसर उपलब्ध कराने हेतु एकीकृत शिक्षा का सराहनीय प्रावधान किया गया है। किन्तु दो दशक से अधिक व्यतीत हो जाने के बावजूद भारत में इसका यथोचित प्रसार नहीं हो पाया है। एकीकृत शिक्षा की सफलता बहुत कुछ नियमित शिक्षकों के सफल भूमिका-निर्वहन पर अवलंबित है। अपनी एकीकृत कक्षा के सामान्य और विशिष्ट विद्यार्थियों के समन्वित और समायोजनपूर्ण विकास हेतु उन्हें स्वयं को कतिपय ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक विशेषताओं से समृद्ध करना होगा। संबंधित प्रशासकों, अभिभावकों और समाज का सहयोग भी इस दिशा में वांछनीय है।

प्रत्येक समाज की नई पीढ़ी में विभिन्न प्रकार की शारीरिक अथवा मानसिक विकलांगता से पीड़ित विशिष्ट बच्चे होते हैं। उन्हें सर्वतोमुखी विकास के विशेष अवसर सुलभ कराना समाज का दायित्व है। इस संदर्भ में विशिष्ट शिक्षा, विशिष्ट विद्यालयों तथा विशिष्ट अध्यापकों की प्रासंगिकता को सर्वमान्य स्वीकृति प्रदान की गई। किन्तु कालांतर में विशिष्ट शिक्षा के विद्यार्थियों के सामाजिक विकास में एक स्पष्ट कमी अनुभूत हुई। इसी कारणवश प्रारंभिक विशिष्ट शिक्षा के उपरान्त योग्य विकलांग विद्यार्थियों को सामान्य विद्यालयों में अध्ययनार्थ भेजे जाने का प्रस्ताव सामने आया। एकीकृत शिक्षा (इंटीग्रेटेड एजुकेशन) की इस प्रक्रिया में विकलांग विद्यार्थियों को एक अव्यावहारिक पार्थक्य का सामना नहीं करना पड़ता तथा उन्हें समवयस्क सामान्य विद्यार्थियों से अन्तर्क्रिया का अवसर भी प्राप्त होता है।

कोठारी कमीशन (1964-66) द्वारा एकीकृत शिक्षा के पक्ष में प्रस्ताव, सातवें दशक के पूर्वार्द्ध में केन्द्र सरकार की ओर से विभिन्न राज्यों में विकलांग बच्चों के लिए एकीकृत शिक्षा (आई.ई.डी.सी.) के रूप में की गई पहल एवं 1986 तथा 1992 की शिक्षा नीति की कार्ययोजनाओं के अन्तर्गत शैक्षिक अवसरों की समानता के लक्ष्य की प्राप्ति हेतु विकलांग विद्यार्थियों को भी यथासंभव सामान्य विद्यालयों में गुणात्मक दृष्टि से समान शिक्षा प्रदान करने पर विशेष बल देने के बावजूद भारत में एकीकृत शिक्षा का समुचित प्रसार नहीं हो पाया है। पंचम शैक्षिक सर्वेक्षण (1992) में यह पाया गया कि देश के कुल प्राथमिक, उच्च-प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्चतर-माध्यमिक विद्यालयों के चंद विद्यालयों में ही एकीकृत शिक्षा की व्यवस्था हो पाई है।

एकीकृत शिक्षा के संदर्भ में नियमित शिक्षक

एकीकृत शिक्षा अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर सके, इसके लिए सामान्य विद्यालयों के नियमित शिक्षकों की विशिष्ट भूमिका पर बहुपक्षीय विचार आवश्यक है।

नियमित शिक्षकों द्वारा अनुदेशन के उपयुक्त संगठन एवं प्रबंधन कर एकीकृत शिक्षा की प्रभावपूर्णता निर्भर है। (स्टीफेन्स एवं अन्य, 1998)। एकीकृत कक्षा में शिक्षक को विकलांग विद्यार्थियों की विशिष्ट समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में अधिगम-वातावरण को समायोजित करना पड़ता है।

रेखाचित्र

एकीकृत कक्षा के सफल नियमित शिक्षक की त्रिआयामी विशेषताएं
ज्ञानात्मक
भावात्मक
क्रियात्मक
कार्य के प्रति सकारात्मक अभिवृत्ति, अभिरुचि एवं उत्साह
विशिष्ट विद्यार्थियों की अन्तर्निहित क्षमताओं की सही समझ और उनमें विश्वास
समस्त विद्यार्थियों के प्रति समभाव से स्नेह
उपयुक्त प्रशिक्षण
एकीकृत कक्षा के मनोवैज्ञानिक, सामाजिक व भौतिक वातावरण में उपयुक्त समायोजन संबंधी योग्यता
विशिष्ट विद्यार्थियों की शारीरिक, शैक्षिक एवं व्यावहारात्मक आवश्यकताओं, विशेषताओं तथा शैक्षिक प्रगति के मूल्यांकन हेतु उपयुक्त सूचनाओं के एकत्रीकरण की क्षमता
विशिष्ट विद्यार्थियों हेतु उपयुक्त यथार्थवादी तथा मापनीय लक्ष्यों एवं उद्देश्यों के निर्धारण की योग्यता
मानवीय तथा भौतिक संसाधनों का नियोजित प्रयोग कर सकने की क्षमता
विद्यार्थी की व्यक्तिगत भिन्नताओं के अनुरूप शिक्षण प्रक्रियाओं का विकास करने की योग्यता
प्रशिक्षण कार्यक्रमों में सक्रिय सहभागिता
एकीकृत कक्षा हेतु विशिष्ट विद्यार्थियों को तैयार करने संबंधी कार्यक्रमों का विकास और आयोजन
सामान्य विद्यार्थियों को विशिष्ट विद्यार्थियों के योग्य सहपाठी बनने हेतु तैयार करना
कक्षा में आवश्यकतानुसार ध्वनि, प्रकाश, श्यामपट्ट, फर्नीचर इत्यादि की उपयुक्त व्यवस्था करना
संबंधित रिसोर्स-अध्यापकों, शिक्षाविदों, मनोवैज्ञानिकों, परामर्शदाताओं तथा चिकित्सकों से विचार-विमर्श एवं तदनुरूप कार्य करना
एकीकृत शिक्षा के प्रति उपयुक्त अनुवर्तन प्रदान करने के उपरान्त अभिभावकों को ऐसे लक्ष्य-निर्धारण में सम्मिलित करना
लक्ष्य-प्राप्ति की दिशा में सक्रियता
तत्संबंधित योजना-निर्माण एवं क्रियान्वयन
आवश्यकतानुरूप शिक्षण प्रक्रियाओं का विकास एवं प्रयोग

कक्षा-कार्य को विद्यार्थी के अनुक्रिया-स्तर से आरंभ करने की आवश्यकता होती है, विद्यार्थी को मौखिक अथवा दृश्य रूप से स्पष्ट, विशिष्ट तथा सतर्क निर्देश देने होते हैं और असफलता की भावना से ग्रस्त विद्यार्थी को बारंबार अभिप्रेरित करना होता है। नवीन सम्प्रत्ययों को छोटे एवं सरल पदों में सिखाने का प्रयत्न किया जाता है। अनुदेशन को व्यक्तिगत स्वरूप देना होता है। मूल्यांकन को प्रतिस्पर्धात्मक आधार से मुक्त करने तथा व्यक्तिगत प्राप्ति पर आधारित करने हेतु ग्रेडिंग जैसी प्रणाली की आवश्यकता होती है। ऐसी प्रणाली को अभिभावकों और विद्यार्थियों को समझाना होता है। विशिष्ट विद्यार्थी नियमित कक्षा में स्वयं को अवहेलित महसूस न करें, इसके लिए शिक्षक को अपनी कक्षा में व्यक्तिगत-भिन्नता के प्रति सहनशीलता और विशिष्ट विद्यार्थियों के प्रति स्वीकृति के वातावरण के विकास का प्रयत्न भी करना होता है।

विशिष्ट बालक-बालिकाओं को प्रायः नकारात्मक सामाजिक अभिवृत्ति का सामना करना पड़ता है, जो उनके विकास और समायोजन के मार्ग में बाधक है। जबकि एकीकृत शिक्षा की अन्तर्निहित मान्यता ही यही है कि विद्यार्थियों के मध्य प्रकारगत नहीं अपितु सिर्फ मात्रागत भिन्नता होती है। अतः एकीकृत शिक्षा के अन्तर्गत विशिष्ट विद्यार्थियों को समस्यात्मक न मानकर उन्हें ऐसा विद्यार्थी माना जाता है, जिनकी शिक्षा के मार्ग में कतिपय समाधान-योग्य विशिष्ट समस्याएं अवरोध रूप में विद्यमान हैं। इन अवरोधों को दूर करने का एक बड़ा दायित्व नियमित शिक्षकों पर होता है। इस दायित्वपूर्ति की दिशा में उनकी सफल भूमिका उनमें कुछ खास विशेषताओं की उपस्थिति पर निर्भर है। इन वांछित विशेषताओं का त्रिआयामी होना अर्थात् शिक्षक-व्यक्तित्व के ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक पक्षों से सम्बद्ध होना आवश्यक है। इन्हें रेखाचित्रों द्वारा स्पष्ट किया गया है।

रेखाचित्र से स्पष्ट है कि ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक विशेषताएं परस्पर अन्तर्संबंधित हैं। उल्लिखित भावात्मक गुण नियमित शिक्षकों को ज्ञानात्मक विशेषताओं के अर्जन तथा क्रियात्मक स्तर पर तत्परता हेतु प्रेरित करते हैं। इसी प्रकार एक नियमित शिक्षक क्रियात्मक स्तर पर वास्तविक रूप से तभी सक्रिय हो सकता है, जब वह स्वयं में उपर्युक्त आधारभूत ज्ञानात्मक योग्यताओं के विकास का प्रयत्न करें। साथ ही, मात्र ज्ञानात्मक और भावात्मक गुणों की विद्यमानता क्रियात्मक निष्पादन के अभाव में अपनी सार्थकता सिद्ध करने में असफल रहेंगी। इन त्रिआयामी विशेषताओं के संतुलित विकास द्वारा नियमित शिक्षक अपने विद्यालय में एकीकृत शिक्षा को उद्देश्य-अभिमुख और सफल बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं।

नियमित शिक्षकों की कठिनाइयां

एकीकृत शिक्षा के संदर्भ में नियमित शिक्षकों की इन कठिनाइयों पर भी विचार आवश्यक है—

- ☐ अपेक्षाकृत अधिक संख्या में विद्यार्थियों का उत्तरदायित्व,
- ☐ देश के सामान्य शिक्षक-प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों के शिक्षण-अभ्यास के अन्तर्गत एकीकृत कक्षाओं में सेवा-पूर्व व्यावहारिक अनुभव प्रदान करने की व्यवस्था का प्रायः अभाव,
- ☐ विशिष्ट शिक्षा की आधुनिकतम तकनीकों के ज्ञान का अभाव,
- ☐ एकीकृत शिक्षा से संबंधित सभी कार्यक्रमों में टीम-भावना की कमी के कारण नियमित शिक्षकों के समक्ष आवश्यक संसाधन और विशेषज्ञता प्राप्त करने के मार्ग में आने वाले अवरोध,
- ☐ समाजिक जागरुकता एवं अभिभावकीय सहयोग का निम्न स्तर,
- ☐ विशिष्ट विद्यार्थियों की अधिगम संबंधी कठिनाइयों के अतिरिक्त नियमित शिक्षकों को उनकी व्यवहार संबंधी कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ता है, जो सम्पूर्ण कक्षा के लिए अवरोधपूर्ण होती है। व्यवहार-परिमार्जन के सिद्धान्तों के अनुप्रयोग संबंधी कौशल का विकसित न होना एवं उसके लिए पर्याप्त समय की कमी भी नियमित शिक्षकों की एक प्रमुख समस्या है।

कतिपय विचारणीय सुझाव

नियमित शिक्षकों की कठिनाइयों का सर्वश्रेष्ठ निवारण वास्तविक स्थिति के सर्वेक्षण एवं क्रियात्मक अनुसंधान के

फलस्वरूप प्राप्त निष्कर्षों के अनुरूप एकीकृत शिक्षा के प्रबंधन से संभव है। यहां कुछ सुझाव विचारार्थ प्रस्तुत हैं—

1. भावी शिक्षकों को एकीकृत कक्षाओं हेतु तैयार करने के लिए सेवा-पूर्व प्रशिक्षण के शिक्षण अभ्यास की कुछ पाठ-योजनाओं का आयोजन एकीकृत कक्षा-परिस्थिति में अवश्य कराया जाना चाहिए।
2. एकीकृत शिक्षण कार्यक्रम से जुड़े सभी कार्मिकों जैसे—प्रशासकों, नियमित एवं विशिष्ट शिक्षकों तथा अन्य सहायक कार्मिकों से उपयुक्त आपसी तालमेल के विकास का प्रयास अपेक्षित है, तभी नियमित शिक्षक इस नवीन उत्तरदायित्व हेतु स्वयं को तैयार कर पाएंगे।
3. नियमित शिक्षकों में अपनी योग्यताओं का निष्पक्ष मूल्यांकन कर उन्हें आवश्यकतानुसार विकसित करने की व्यक्तिगत तत्परता होनी चाहिए। एक कुशल सहकर्मी की कक्षा का निरीक्षण, स्वतंत्र अध्ययन, सम्मेलनों, कार्यशालाओं, विश्वविद्यालयी पाठ्यक्रमों तथा संबंधित कार्यक्रमों में सक्रिय सहभागिता, और सहभागी विशेषज्ञों से विचार-विमर्श उनके व्यावसायिक विकास की दिशा में लाभकारी होगा।
4. अभिभावक विशिष्ट छात्रों से संबंधित महत्त्वपूर्ण सूचनाएं उपलब्ध कराने वाले एक प्रमुख स्रोत होते हैं। एकीकृत शिक्षा की सफलता हेतु यह आवश्यक है कि शिक्षक उनसे बराबर सम्पर्क रखकर उन्हें जागरुक बनाने, तथा उनका सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न करे। विशिष्ट विद्यार्थियों की विभिन्न कक्षागत समस्याओं के समाधान में अभिभावकों के अनुभवों का लाभ उठाया जा सकता है।

घर में किए जाने वाले प्रयास विद्यालयी प्रयास के अनुकूल हों—इसके लिए संबंधित अभिभावकों को विशिष्ट विद्यार्थियों की कक्षागत स्थिति तथा शैक्षिक प्रगति से नियमित रूप से अवगत कराना चाहिए। सिर्फ विशिष्ट विद्यार्थियों के अभिभावकों का ही नहीं, अपितु सामान्य विद्यार्थियों के अभिभावकों का भी सहयोग अपेक्षित होगा। वे कहीं अधिक सरलतापूर्वक बच्चों में विकलांग विद्यार्थियों के प्रति धनात्मक अभिवृत्ति उत्पन्न कर सकते हैं।

5. भारतीय समाज का अधिकांश एकीकृत शिक्षण कार्यक्रम के उद्देश्यों तथा इसे सफल बनाने हेतु आवश्यक प्रक्रियाओं से परिचित नहीं हैं। सामाजिक सहयोग के बिना किसी नवीन प्रणाली के प्रसार की गति धीमी हो जाती है। अतः अनुवर्तन कार्यक्रमों के आयोजन द्वारा समुदाय के समक्ष एकीकृत शिक्षा के गुण-दोषों का वस्तुनिष्ठ प्रस्तुतीकरण कर अवरोधों को दूर करने में उनकी सहायता ली जा सकती है। इससे भारतीय समाज में विकलांगों विशेषकर विकलांग बालिकाओं के प्रति धनात्मक अभिवृत्ति के विकास में भी मदद मिलेगी।
6. संवेदी और अन्य शारीरिक समस्याओं से ग्रस्त विद्यार्थियों की कठिनाइयों से सामान्य विद्यार्थियों को अवगत कराने हेतु सिमुलेशन तकनीक तथा विशिष्ट अनुदेशात्मक इकाइयां उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। इससे अवसर आने पर सामान्य विद्यार्थी अपने विशिष्ट सहपाठियों की सहायता कर सकेंगे। नेत्र और श्रवण-दोष से पीड़ित विद्यार्थियों के साथ उनकी अक्षमताओं के संबंध में खुली चर्चा का भी आयोजन किया जा सकता है। यद्यपि ऐसा चर्चा से विशिष्ट विद्यार्थियों की अभिव्यक्ति क्षमता में वृद्धि होती है, किन्तु उस दौरान संभावित संवेदनशील स्थिति नियमित शिक्षकों से विशेष कौशल की अपेक्षा करती है। विशेषज्ञ के सहयोग से विशिष्ट विद्यार्थियों को अपने सहपाठियों के समस्यात्मक व्यवहार के प्रति उपयुक्त अनुक्रिया करने और क्रोध एवं निराशा के उन्मोचन के सही तरीकों का ज्ञान देना भी प्रासंगिक होगा।

सामान्य एवं विशिष्ट विद्यार्थियों के मध्य पारस्परिक सहयोग और आदर-भाव के विकास हेतु दोनों वर्गों को एक दूसरे के व्यक्तित्व के सामान्य पक्ष बताने चाहिए। विशिष्ट विद्यार्थियों की विशिष्ट क्षमताओं की ओर कक्षा का ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है। मंद गति से कार्य करनेवाला विद्यार्थी कक्षा के लिए अजूबा न बने, इसके लिए कक्षा को व्यक्तिगत-अधिगम गतिविधियों का अभ्यस्त बनाया जाना भी जरूरी है। ऐसे अधिगम-कार्य सफलता की संभावना बढ़ाकर

विशिष्ट विद्यार्थियों की कुंठा को नियंत्रित करते हैं। विशिष्ट विद्यार्थियों को उनकी क्षमता के अनुरूप उत्तरदायित्वपूर्ण क्रियाकलापों में शामिल करना तथा उनकी अल्प-प्रगति को भी समुचित पुनर्बलन देना उपयोगी होगा।

7. ऐसी अधिगम प्रक्रियाओं का विकास अपेक्षित है, जिसके अन्तर्गत विद्यार्थी अपनी त्रुटियों का स्वयं मूल्यांकन एवं शुद्धिकरण कर सकें। एकीकृत शिक्षा के अन्तर्गत मानदण्ड संदर्भित परीक्षण अधिक संगत पाए गए हैं।
8. नियमित शिक्षकों को अपने प्रयासों का सतत् मूल्यांकन कर तदनुसार अपनी शिक्षण-प्रक्रिया को निरन्तर परिमार्जित करते रहना चाहिए।

निष्कर्ष

एकीकृत शिक्षा के अन्तर्गत नियमित शिक्षकों की सर्वोपरि भूमिका विशिष्ट छात्रों को कक्षा के अभिन्न अंग बनाने में निहित है। एकीकृत शिक्षा से जुड़े प्रशासकों एवं कार्मिकों, सामान्य एवं विशिष्ट विद्यार्थियों के अभिभावकों तथा समाज का सम्मिलित सहयोग निश्चित ही नियमित शिक्षकों का उत्साहवर्धन करेगा और एकीकृत शिक्षा के प्रसार-कार्य को एक नवीन ऊर्जा प्रदान करेगा। ▢▢

प्रवक्ता (शिक्षा विभाग)
वसंत महिला महाविद्यालय
कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इंडिया
राजघाट फोर्ट, वाराणसी

सन्दर्भ

एजुकेशन एंड नेशनल डेवलपमेन्ट (1970) *रिपोर्ट ऑफ एजुकेशन कमीशन 1964-66,* नई दिल्ली : एन.सी.ई.आर.टी.।

एन.सी.ई.आर.टी. (1992), *फिफ्थ ऑल इंडिया एजुकेशनल सर्वे,* वॉल्यूम-1, नई दिल्ली।

स्टीफेन्स, टी.एम. ; ब्लैकहर्स्ट, ए.ई. एवं मैग्लाइओक्का, एल.ए. (1988) *टीचिंग मेनस्ट्रीम्ड स्टूडेन्ट्स,* ऑक्सफोर्ड : प्रैगामॉन प्रेस।

हिन्दी की अन्य गद्य विधाएं

❑ हीरालाल बाछोतिया

हिन्दी साहित्य की मुख्य विधाओं–कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि पर तो पर्याप्त चर्चा होती है परंतु इसकी अन्य गद्य विधाओं जिनमें रेखाचित्र संस्मरण, रिपोतार्ज, आत्मकथा, जीवनी, यात्रा-वृतांत, पत्र-साहित्य, परिचर्चा, वार्ता, कोलाज आदि का समावेश है की अपेक्षाकृत कम चर्चा होती है। प्रस्तुत लेख में इन्हीं गद्य विधाओं का सूक्ष्म विवरण दिया गया है।

हिन्दी गद्य की परंपरा लगभग एक हजार वर्ष पुरानी है किंतु इसका क्रमबद्ध इतिहास रीतिकाल के बाद तथा आधुनिक काल के प्रारंभ से मिलता है। 10वीं शताव्दी के आसपास राजस्थानी गद्य तथा चौदहवीं शताव्दी में ब्रजभाषा गद्य के उदाहरण मिलते हैं। इसी प्रकार अमीर खुसरो (10वीं शताव्दी) के साहित्य में, दक्खिनी हिन्दी, संत साहित्य में भी खड़ी-बोली गद्य का प्रारंभिक रूप मिलता है।

फोर्ड विलियम कॉलेज में की गई सिलसिलेवार कोशिशों तथा इंशा अल्लाखां से लेकर सदल मिश्र तक की प्रारंभिक गद्य रचनाओं से हिन्दी गद्य लेखन का मार्ग प्रशस्त हुआ। भारतेन्दु युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बाल मुकुंद गुप्त आदि का योगदान हिन्दी गद्य को आगे बढ़ाने में अविस्मरणीय है। पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी के अलावा उनके युग के अनेक लेखकों चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', अध्यापक पूर्ण सिंह, शिवपूजन सहाय आदि ने हिन्दी गद्य की विविध विधाओं का रूप निखारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। छायावाद के चारों प्रमुख कवियों प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी ने काव्य के समानान्तर गद्य लेखन भी किया। इस युग में हिन्दी की अन्य विधाएं वास्तव में प्रतिष्ठित हो गईं। इसमें माखनलाल चतुर्वेदी, चतुरसेन शास्त्री, वियोगी हरि, शांतिप्रिय द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे गद्यकारों के योगदान को अलग पहचाना जा सकता है।

प्रगतिशील लेखकों और गद्यकारों में सर्वश्री डा. रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, अमृतराय, रांगेय राघव ने आलोचना के साथ-साथ अन्य विधाओं में भी लेखन किया। परवर्ती काल में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, भगवत शरण उपाध्याय, वासुदेव शरण अग्रवाल, डा. नगेन्द्र, रामचंद्र शुक्ल, प्रेमचंद, यशपाल आदि विचारशील लेखकों का गद्य लेखन सर्वथा उल्लेखनीय है।

स्वातंत्र्योत्तर काल में गद्य साहित्य के विविध आयामों का उद्घाटन हुआ। इस दौर के लेखकों में अज्ञेय, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, फणेश्वरनाथ रेणु, नागर्जुन, सर्वेश्वर, डा. नामवर सिंह, विद्या निवास मिश्र, शिव प्रसाद सिंह, निर्मल वर्मा, प्रभाकर मांचवे, कृष्णा सोबती, कमलेश्वर आदि ने एक से अधिक विधाओं में गद्य लेखन कर हिन्दी को विश्व साहित्य के दर्जे में ला खड़ा किया।

हिन्दी साहित्य की मुख्य विधाओं कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक पर तो पर्याप्त चर्चा होती है जबकि अन्य गद्य विधाओं की चर्चा अपेक्षाकृत कम। गौरतलब है कि अन्य विधाओं के उत्कर्ष के कारण ही हिन्दी साहित्य के सारे अंश पुष्ट हो सके हैं जिन पर ध्यान केन्द्रित करना ही यहां उचित है।

हिन्दी की अन्य गद्य विधाएं

हिन्दी की अन्य गद्य विधाओं में निम्नलिखित का समावेश किया जाता है—रेखाचित्र, संस्मरण, रिपोर्ताज, ललित निबंध, व्यंग्य, डायरी, इंटरव्यू, आत्मकथा, जीवनी, यात्रा-वृतांत, फीचर, पत्र-साहित्य, परिचर्चा, वार्ता, कोलाज।

रेखाचित्र संस्मरण

पात्रों के संबंध में अपने विचार घृणा, द्वेष, आशा-निराशा आदि का चित्रण रेखाचित्रों में प्राप्त होता है। रामवृक्ष वेनीपुरी, महादेवी वर्मा, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर के रेखाचित्र इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। वेनीपुरी की कृतियां माटी की मूरतें, हंसिया और हथौड़ा, गेहूं और गुलाब, कुदाल, में से माटी की मूरतें में सरजू भैया, रूपा की काकी, बैजू मामा, सुभान खां आदि में लेखक ने पात्रों के जीवन को अच्छा उभारा है तो गेहूं श्रम का प्रतीक है जबकि गुलाब विलासिता का।

महादेवी चित्र बनाने की कला में निपुण थीं। इसका प्रभाव उनके रेखाचित्रों पर भी देखा जा सकता है। महादेवी ने निम्न वर्ग के पात्रों को अपने रेखाचित्रों का केन्द्र बनाया। उनकी लेखनी से ये पात्र अमर हो गए हैं। इन रेखाचित्रों में उनके पात्र बोलते कम हैं किंतु महादेवी के रेखांकन से जैसे वे मुखर हो उठे हैं। महादेवी के रेखाचित्रों में स्मृतिचित्र तथा संस्मरण दोनों का समावेश है। इस विधा में उनके चार संग्रह पठनीय हैं—1. अतीत के चलचित्र (1941) 2. स्मृति की रेखाएं (1943) 3. पथ के साथी (1946) 4. मेरा परिवार (1972)।

"अतीत के चलचित्र" में ग्यारह शब्द चित्र हैं जिनमें दीन-हीन, पीड़ित, विवश, परित्यक्त, समाज से प्रताड़ित पात्रों की जीवन कथाएं हैं। महादेवी का अपना जीवन भी इनमें दिखाई देता है।

"स्मृति की रेखाएं" में संस्मरणात्मक शैली में लिखे गए सात रेखाचित्र हैं जिनमें महादेवी का चित्रकार, पर्यटक, प्रधानाध्यापिका आदि रूप उभरकर आया है। ग्राम निवासियों की सरलता, भावुकता उनका भोलापन चित्रित करना ही इन रेखाचित्रों का प्राप्तव्य है। कला की तूलिका से अंकित ऐसे रेखाचित्र अन्यत्र दुर्लभ हैं। इस संग्रह में आए सभी पात्रों में दुखवाद की प्रधानता है। महादेवी द्वारा की गई यात्राएं की हैं, कल्पवास आदि के अनुभव इन चित्रों में समाहित हैं।

'पथ के साथी' में अपने समकालीन छह साहित्य सेवियों जिनमें कुछ सहयोगी भी थे, के रेखांकन सुलभ हैं। इनमें टैगोर, मैथलीशरण गुप्त, सुभद्रा कुमारी चौहान, निराला, पंत, प्रसाद के व्यक्ति चित्र हैं जिनमें उनकी विशेषता को उभारने की दृष्टि से यथोचित शैली का प्रयोग इन रेखाचित्रों की अन्य विशेषता है।

महादेवी के अपने घर परिवार के प्राणियों के मर्मस्पर्शी रेखाचित्र "मेरा परिवार" में प्रकाशित हैं। गहन संवेदनशीलता वाला "नीलू कुत्ता", "दुमुर्ख खरगोश", "सोना हिरनी" रेखाचित्र इनमें सबसे उल्लेखनीय हैं।

रेखाचित्र/संस्मरण लेखन हिन्दी की एक सशक्त विधा है। आचार्य द्विवेदी से लेकर अज्ञेय तक सभी समर्थ लेखकों ने इसमें अपना योगदान दिया है। इस विधा के अन्य उल्लेखनीय लेखकों में कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर का नाम अग्रणीय है। मिश्र जी के इन संस्मरणों/ रेखाचित्रों में सामान्य-सा विषय भी चुस्त शैली और प्रांजल भाषा में ढलकर निखर उठता है। उनके रेखाचित्र संग्रह हैं—जिन्दगी मुस्कुराई, बाजे पायलिया के घुंघरू, महके आंगन चहके द्वार, माटी हो गई सोना।

रिपोर्ताज

अंग्रेजी शब्द रिपोर्ट का समानार्थी फ्रांसीसी शब्द रिपोर्ताज है। इसमें घटना का तथा तथ्य विवरण कलात्मक तथा संवेदनात्मक रूप में किया जाता है। शैली कथात्मक अवश्य होती है पर यह कथा नहीं, विवरण डायरी पर भी आधारित हो सकता है। किंतु यह डायरी भी नहीं है। यात्रा वर्णन पर आधारित होकर भी यह यात्रा वृतांत नहीं होता। इसमें लेखक प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर किसी घटना की रिपोर्ट तैयार करता है। रिपोर्ट के कलात्मक साहित्यिक रूप को ही रिपोर्ताज कहा जाता है। दूसरे शब्दों में घटना की तात्कालिक प्रतिक्रिया से भावावेश प्रधान शैली में लिखी गई विधा ही रिपोर्ताज है।

इस विधा का विकास यूरोप में युद्ध क्षेत्र में हुआ।

इसमें घटना चित्रपट की तरह आंखों के सामने तेजी के साथ घूम जाती है। परिवेश की संपूर्ण चित्रात्मकता के साथ भावों और संवेदना से युक्त घटना सजीव बन जाती है।

हिन्दी में रिपोर्ताज का आगमन प्रेमचंद द्वारा संपादित होता है। "मौत के खिलाफ जिंदगी की लड़ाई" हंस में प्रकाशित रिपोर्ताज की पहली कड़ी थी। इसके लेखक थे शिवदान सिंह चौहान। इस नौ पृष्ठीय रिपोर्ताज में स्वतंत्रता से पूर्व देश की गतिविधि पर पूरा प्रकाश पड़ता है। भारत-चीन तथा बाद में पाक युद्ध के समय इस विधा का तेजी से विकास हुआ।

हिन्दी रिपोर्ताज लेखकों में रांगेय राघव, भगवतशरण उपाध्याय, रामकुमार, जगदीश चन्द्र जैन, प्रभाकर माचवे, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती, मणि मधुकर, विवेकीराय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। धर्मवीर भारती बांग्लादेश के मुक्ति धर्मयान में मोर्चे पर भी रहे और धारावाहिक रूप से धर्मयुग में लिखते रहे। बाद में यह मुक्तक्षेत्र, युद्धक्षेत्र नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। यह बांग्लादेश की पृष्ठभूमि में लिखा गया एक विस्तृत रिपोर्ताज है। अन्य उल्लेखनीय रिपोर्ताज हैं—सूखे सरोवर (मणि मधुकर) सावधान गांवों में शहर आ पहुंचा (विवेकीराय) सोजालोवो (ललित शुक्ल) वे लड़ेंगे हजार साल (शिव सागर मिश्र) ज्वालामुखी का निहत्था उद्गार : ईरान जैसा मैंने देखा (नासिरा शर्मा) आदि हैं।

ललित निबंध

व्यक्ति प्रधान, व्यक्तित्व प्रधान अथवा व्यक्तिगत आत्मपरक लघु गद्य खंड को ललित निबंध कहा जाता है। इसमें लेखक की वैयक्तिकता की ही प्रधानता होती है। इस कारण यह गद्य काव्य के समीप भी दिखाई देता है। मनोभावों और विचारों का इस प्रकार प्रदर्शन किया जाता है जिसमें आत्म प्रदर्शन करने की बू आने लगती है। एक तरह से स्वतः सुखाय की भावना के माध्यम से लेखक छोटी सी साधारण वस्तु को विश्व चेतना से सम्पृक्त कर महत्त्वपूर्ण बना देता है। ललित निबंध की एक और प्रमुख विशेषता है विलक्षणता। कथन का अनूठा एवं अद्भुत ढंग जिसके द्वारा विचारों का रंग-बिरंगा ताना-बाना कल्पना जगत में उड़ान और भाव जगत में विचरण ललित निबंध की अपनी विशेषता है। यह विधा आधुनिक युग की देन है। यह परंपरा अंग्रेजी साहित्य की देन भी मानी जाती है किंतु भारतीय परिवेश में इसका विकास भिन्न प्रकार से हुआ है। निबंधकार जितना अधिक बहुश्रुत, बहुपठित, शैलीकार तथा लोक चेतना से संयुक्त होता है वह उतनी ही श्रेष्ठ रचना देता है।

हिन्दी में ललित निबंधकारों में शीर्ष स्थानों पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी आते हैं। साहित्य एवं संस्कृति संबंधी निबंधों में उनके विराट व्यक्तित्व की अमिट छाप मिलती है। उनके निबंधों में प्राचीनता और नवीनता का अपूर्व सामंजस्य है। निबंधों में उनका ठोस बौद्धिक चिंतन, शास्त्रीय विवेचन, सनातन जीवन दर्शन सहज तथा सरल भाषा में अभिव्यक्त हुआ है। उनके निबंधों में अपार वैविध्य है। नाखून क्यों बढ़ते हैं, एक कुत्ता और एक मैना जैसे साधारण विषय से लेकर कुटज जैसे गरिष्ठ विषय पर उन्होंने विलक्षण निबंध लिखे हैं।

व्यक्तिपरक निबंधकारों में अज्ञेय जी का स्थान भी अग्रगण्य है। उनके ऐसे निबंध 'आत्मने पद' में देखे जा सकते हैं जो उन्होंने निबंध में कविता की तरह प्रयोग किए हैं। प्रभाकर माचवे के ललित निबंधों में हास्य व्यंग्य का पुट भी देखा जा सकता है। डा. धर्मवीर भारती के भी तीन निबंध संग्रह हैं—पश्यंती, ठेले पर हिमालय तथा कहनी-अनकहनी।

आचार्य द्विवेदी की परंपरा को प्रखरतर रूप देने वाले निबंधकार पं. विद्यानिवास मिश्र का नाम सर्वोपरि है। मिश्र जी के निबंधों में भारतीय संस्कृति, भाषा, चिन्तन तथा शैली का विलक्षण प्रयोग मिलता है। इस क्षेत्र में अनेक निबंधकारों का सराहनीय योगदान है। डा. नामवर सिंह (बकलम खुद) डा. नगेन्द्र (विचार और अनुभूति) जैसे समीक्षकों ने भी ललित निबंधों का प्रणयन किया है। व्यंग्य विनोद में सामयिक जीवन की विसंगतियों तथा विद्रूपताओं का पर्दाफाश करना अभिष्ट होता है। इस दृष्टि से हरिशंकर परसाई और शरद जोशी के नाम अग्रगण्य हैं। राजनीतिक, सामाजिक, तथा तात्कालिक समस्याओं को परसाई की लेखनी ने गहराई से संस्पर्शित किया है। शरद जोशी के

व्यंग्य अपनी तात्कालिकता तथा मार्मिक कटाक्ष के लिए याद किए जाते हैं। इसके अलावा रवीन्द्रनाथ त्यागी, नरेन्द्र कोहली, मनोहर श्याम जोशी, मुद्रा राक्षस, बरसानेलाल चतुर्वेदी, के.पी. सक्सेना, केशवचन्द्र वर्मा आदि श्रेष्ठ व्यंग्यकार माने जाते हैं।

डायरी

डायरी किसी भी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति है पर प्रकाशित होने पर वह सार्वजनिक हो जाती है। डायरी का अपना निजी महत्व है जिसमें लेखक शुद्ध हृदय से जो अनुभव करता है उसे यथार्थता तथा सत्यता से प्रस्तुत करता है। डायरी प्रतिदिन तारीख सन्/संवत का उल्लेख करते हुए लिखी जानी चाहिए।

डायरी लेखन का सुदृढ़ आधार देने का श्रेय महात्मा गांधी को है। वे ही इस विधा के मूल स्रोत हैं। उनसे प्रभावित होकर उनके अनेक साथियों महादेव देसाई, राजेन्द्र बाबू, विनोबा आदि ने व्यक्तिगत डायरियां लिखीं जिनका उद्देश्य आत्मालोचन है। गांधीजी के अनुसार जो सत्य की आराधना करता है डायरी उसके लिए पहरेदार का काम करती है। किंतु कभी-कभी डायरी कल्पना आधारित भी होती है। इसमें लेखक अपने कल्पना जनित विचार लिखता है। ऐसी डायरी केवल विधा में डायरी होती है। डायरी निजी होते हुए भी समसामयिक समस्याओं, विचारों तथा जीवन को भी उसमें आत्मसात् करके लिखी जाती है। ऐसी उल्लेखनीय कृति विवेकीराय द्वारा लिखित "मास्टर मनबोध की डायरी" (1984) उल्लेखनीय है। डा. धीरेन्द्र वर्मा, काका कालेलकर, डा. देवराज आदि ने भी डायरियां लिखी हैं। हरिशंकर परसाई (निठल्ले की डायरी), निजी सचिव की डायरी (डा. बरसाने लाल चतुर्वेदी) व्यंग्य शैली में लिखी डायरी है जो उल्लेखनीय है।

यात्रा विवरण भी डायरी शैली में लिखे गए हैं। राजेन्द्र अवस्थी की 'सैलानी की डायरी' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। इसी प्रकार लद्दाख की डायरी (सज्जन सिंह) साहित्यिक डायरी (डा. गोपीनाथन) भी उल्लेखनीय कृतियां हैं।

राजनेताओं की डायरी का ऐतिहासिक महत्व होता है। साहित्यिक डायरी में लेखक के विचार तथा आंदोलनों को समझने में सहायता मिलती है। इस दृष्टि से अज्ञेय, मुक्तिबोध, धर्मवीर भारती, धूमिल, अजित कुमार आदि की डायरी साहित्य को देखा जा सकता है।

इंटरव्यू

इंटरव्यू के लिए हिन्दी में भेंट, भेंटवार्ता, साक्षात्कार, चर्चा आदि शब्द प्रचलित हैं किंतु सर्वाधिक प्रचलित शब्द इंटरव्यू ही है। साहित्येतर जगत के लोगों से लिए गए साक्षात्कार इंटरव्यू ही कहे जाते हैं। पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से इस विधा को विकास का पर्याप्त अवसर मिला है।

भेंटवार्ता में सामान्यतः ये प्रश्न पूछे जाते हैं—

1. आपका जन्म संवत?
2. आपने शिक्षा कहां प्राप्त की?
3. शिक्षालय की कोई विशेष घटना/ घटनाएं?
4. कोई एसी बात जिसने आपको निरुत्साहित किया हो आदि।

किंतु बंधे-बंधाए प्रश्न हमेशा उपयोगी नहीं होते। आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन करना पड़ता है या पूरक प्रश्नों की जरूरत होती रहती है। साहित्यकारों से उनकी कृतियों आदि पर भी प्रश्न पूछे जाते हैं।

हिन्दी में उल्लेखनीय इंटरव्यू 1905 में जयपुर से प्रकाशित "समालोचक" में प्रकाशित हुआ था। यह इंटरव्यू पं. विष्णु दिगंबर पलुस्कर से लिया गया था तथा इंटरव्यू "संगीत की धुन" शीर्षक से छपा था। इंटरव्यूकार थे—पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी। स्वातंत्रयोत्तरकाल में इस विधा को स्थायीत्व देने की दृष्टि से डा. पद्मसिंह शर्मा कमलेश का नाम उल्लेखनीय है। डा. कमलेश के इंटरव्यू में 'इनसे मिला' दो खंडों में प्रकाशित है तथा हिन्दी के समस्त प्रतिष्ठित साहित्यकारों के इंटरव्यू इनमें मिलते हैं। इस विधा को राजेन्द्र यादव, शिवदान सिंह चौहान, कैलाश कल्पित, लक्ष्मी नारायण शर्मा, मनोहर श्याभ जोशी ने आगे बढ़ाया। डा. रणवीर व्यंग्रा ने "साहित्यिक साक्षात्कार" में हिन्दी तथा भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों से पूर्व निर्धारित तरीके से प्रमाणिक इंटरव्यू लिए हैं। उन्होंने इंटरव्यू लेने के तरीकों पर भी प्रकाश डाला है। इधर माजदा असद (इंटरव्यू) प्रकाश मनु (वैचारिकी) सुधीश पचौरी (नामवर से विमर्श)

समकालीन साहित्यिक परिदृश्य (शमशेर अहमद खान) आदि व्यक्तियों और साहित्यकारों से लिए गए साक्षात्कारों का विशेष स्थान है।

पत्र-पत्रिकाओं तथा संचार-माध्यमों के कारण इंटरव्यू एक सर्वाधिक लोकप्रिय विधा के रूप में सामने आ रहा है।

आत्मकथा

अपने अनुभवों को आत्मचित्रण द्वारा व्यक्त करना ही आत्मकथा है। आत्मचरित अन्य व्यक्तियों के लिए प्रेरणादायक होता है। हिन्दी में आत्मकथा का प्रारंभ भारतेन्दु से माना जाता है। 'कुछ आप बीती' में आत्मकथा के तत्व मिलते हैं। उनके समकालीन राधाचरण गोस्वामी रचित "मेरा संक्षिप्त जीवन चरित" तथा अंबिकादत्त व्यास रचित "निज वृत्तांत" वस्तुतः आत्मकथा ही हैं।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही स्वामी श्रद्धानंद की पुस्तक "कल्याण मार्ग का पथिक" सत्यानन्द की पुस्तक "मुझ में दैवी जीवन का विकास" तथा परमानंद की "आपबीती" भी उल्लेखनीय आत्मकथाएं हैं।

राष्ट्रीय नेताओं की आत्मकथाएं नव पीढ़ी के लिए प्रेरणा स्वरूप सिद्ध हुईं। इन आत्मकथाओं में "सत्य के प्रयोग" (महात्मा गांधी) मेरी कहानी (जवाहरलाल नेहरु) आत्मकथा (डा. राजेन्द्र प्रसाद) तरुण के स्वप्न (सुभाषचन्द्र बोस) आधे रास्ते (क. मा. मुंशी) मेरी जीवन गाथा (जानकी देवी बजाज) कोई शिकायत नहीं (श्रीमती कृष्णा हठी सिंह) आदि प्रसिद्ध हैं।

राजनीति से इतर क्षेत्रों में कार्यरत महापुरुषों ने भी आत्मकथाएं लिखी हैं जिनमें प्रवासी की आत्मकथा (भवानी दयाल संन्यासी) स्वतंत्रता की खोज (स्वामी परिव्राजक) मेरा जीवन प्रवाह (वियोगी हरि) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

साहित्याकारों ने अपने जीवन के अनुभव अन्य विधाओं के सामानान्तर आत्मकथा के माध्यम से भी प्रस्तुत किए हैं। राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, शान्तिप्रिय द्विवेदी, सेठ गोविन्द दास, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, चतुरसेन शास्त्री आदि की लिखी आत्मकथाएं महत्त्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त सुप्रसिद्ध उपन्यासकार उपेन्द्रनाथ अश्क की आत्मकथा (ज्यादा अपनी कम परायी) बच्चन जी की आत्मकथा 'क्या भूलूं क्या याद करूं' नीड़ का निर्माण फिर, बसेरे से दूर (कई खंडों में) शिवपूजन सहाय की आत्मकथा मेरा जीवन, अमृता प्रीतम की आत्मकथा रसीदी टिकट, विष्णु प्रभाकर की आत्मकथा 'क्या खोया क्या पाया' हिन्दी साहित्य की निधि ही हैं।

इधर नए रचनाकारों में आत्मकथा लिखने का नया उत्साह देखा जा सकता है। कई लेखकों ने उपन्यासों के माध्यम से भी आत्मकथा लिखी है। बाणभट्ट की आत्मकथा, (हजारी प्रसाद द्विवेदी) कुल्लीमाट (निराला) इसके उदाहरण हैं।

जीवनी

"जीवन का वर्णन" या "जीवन चरित्र" ही जीवनी है। इसके दो प्रकार मिलते हैं। पहले प्रकार की जीवनी किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा लिखी प्रतीत होती है जिसमें किसी व्यक्ति के जीवन का लिखित या वर्णित वृतांत मिलता है। इतिहास लेखक घटनाओं तक सीमित रहता है जबकि जीवनी लेखक घटनाओं से आगे बढ़कर चरित नायक के जीवन को रोचक ढंग से प्रस्तुत करता है। अच्छी जीवनी में रोचकता का होना नितांत आवश्यक है। नायक की असाधारणता के कारण ही जीवनी का महत्त्व बढ़ता है जिससे संकट की घड़ी में पाठक पढ़कर प्रेरणा प्राप्त कर सकें।

हमारा जीवनी साहित्य भारतीय पुनरुत्थान की देन है। भारतेन्दु काल में ऐसे ग्रंथ लिखे गए जिनमें जीवनी के तत्व हैं। बाद में महापुरुषों को आश्रय बनाकर अनेक जीवन चरित लिखे गए जिनमें सर्वाधिक जीवनियां महात्मा गांधी पर लिखी गईं। अन्य महापुरुषों में स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामतीर्थ, दादाभाई नौरोजी, भगत सिंह, चंद्रशेखर, सुभाष, जवाहरलाल नेहरु, सरदार पटेल, राजेन्द्र प्रसाद तथा ऐतिहासिक महापुरुषों शिवाजी, राणा प्रताप, लक्ष्मीबाई आदि पर लिखी जीवनियां उल्लेखनीय हैं।

साहित्यिक दृष्टि से उल्लेखनीय जीवनियां हैं—प्रेम चंद घर में (शवरानी देवी) कलम का सिपाही (अमृतराय) आवारा मसीहा (विष्णु प्रभाकर) छोटे आदमी की बड़ी कहानी (राही मासूम रजा) आदि।

इधर नेशनल बुक ट्रस्ट ने 1967 से जीवन चरित्र माला के अंतर्गत अनेक पुस्तकें प्रकाशित की हैं जिनका सभी

भाषाओं में अनुवाद भी किया जाता है। सस्ता साहित्य मंडल, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार ने भी जीवनी साहित्य प्रकाशित किया है। *एन. सी. ई. आर. टी. ने पढ़ें और सीखें* योजना के अंतर्गत प्रतिष्ठित साहित्यकारों से विभागीय सहयोग देकर बच्चों के लिए जीवनियां लिखवाईं जिनमें उन पक्षों को उभारा गया जिसे युवाओं में नव प्रेरणा का संचार कर सकें।

यात्रा वृत्तांत/ यात्रावृत्त/ यात्रा संस्मरण

यात्रा वृत्तांत पर्याप्त लोकप्रिय विधा है। यायावरी प्रवृत्ति के कारण मनुष्य एक स्थान पर रहने के बजाए घूमना पसंद करता है। मोटे तौर पर यात्रावृत्त में तथ्यात्मकता, आत्मीयता, स्थानीयता, वैयक्तिकता, कल्पना प्रवणता, रोचकता आदि गुण मिलने चाहिए जिससे पाठक बंधा रहे। इस दृष्टि से यात्रावृत्त लिखने के लिए पैदल यात्रा श्रेयस्कर है। राहुल सांकृत्यायन ऐसे ही घुमक्कड़ विद्वान थे। उन्होंने "घुमक्कड़ शास्त्र" लिखकर इसे अपार महिमा भी प्रदान की। यात्रा के पन्ने, एशिया के दुर्गम भूखंडों में, किन्नर प्रदेश में, रूस में पच्चीस मास आदि उनकी यात्रा विषय पुस्तकें हैं। अज्ञेय के यात्रा संस्मरणों में 'अरे यायावर रहेगा याद' तथा 'एक बूंद सहसा उछली' उल्लेखनीय कृत्तियां हैं। उनकी अन्य चर्चित कृति है— जय जनक जानकी। डा. कर्णसिंह द्वारा ललित शैली में लिखा यात्रावृत्त "अमरनाथ की यात्रा" भी उल्लेखनीय है।

यात्रावृत्त की अन्य उल्लेखनीय कृत्तियां हैं—कलकत्ते से पीकिंग (भगवत शरण उपाध्याय) पैरों में पंख बांधकर (रामवृक्ष बेनीपुरी) राहवीर्ता (यशपाल) हिमालय यात्रा (काका कालेलकर) चीड़ों पर चांदनी (निर्मल वर्मा) आखरी चट्टान (मोहन राकेश) यूरोप के स्केच (रामकुमार) गोरी नजरों में (प्रभाकर माचवे) यात्रा की अंतर्यात्रा (शंकर दयाल सिंह) धरती लाल गुलाबी चेहरे (नंदन) दुनिया के अनजान देशों में (राजेन्द्र अवस्थी) आदि।

फीचर

यह पत्रकारिता क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण विधा है। किसी स्थान/क्षेत्र विशेष पर ध्यान आकर्षित करने के लिए लिखा गया समग्र संक्षिप्त वर्णन फीचर में स्थान पाता है। फीचर अब रेडियो, दूरदर्शन के संदर्भ में अधिक प्रयोग में आ रहा है। धर्मयुग, हिन्दुस्तान आदि में कलात्मक फीचर प्रकाशित होते रहे हैं। मोहन राकेश, कमलेश्वर, ठाकुर प्रसाद सिंह, श्री लाल शुक्ल आदि ने अच्छे फीचर लिखे हैं।

पत्र साहित्य

प्रतिभा संपन्न व्यक्तियों के पत्र साहित्य की अक्षय निधि हैं। द्विवेदी काल में लिखे पत्र अब पुस्तकाकार उपलब्ध हैं। द्विवेदी पत्रावली इसका उदाहरण है। कई साहित्यकारों की रचना में छूटा "शेप" (अंतराल) उनके पत्रों के माध्यम से भरने में सहायता मिलती है। प्रेमचंद के पत्र 'चिटठी-पत्री' शीर्षक से प्रकाशित हुए हैं। अन्य पत्र साहित्य की कृत्तियां हैं—निराला के पत्र (जानकी वल्लभ शास्त्री) पंत के सौ पत्र (बच्चन) बच्चन पत्रों में (जीवन प्रकाश जोशी) शांति निकेतन से शिवालिक (हजारी प्रसाद द्विवेदी) यशपाल के पत्र (मधुरेश) इन खतों से खुशबू आती है (शंकर दयाल सिंह) आदि राजनीतिज्ञों के पत्रों में बापू के पत्र (काका कालेलकर) कुछ पुरानी चिट्ठियां तथा पिता के पत्र पुत्री के नाम (जवाहरलाल नेहरु) आदि भी उल्लेखनीय हैं।

परिचर्चा

परिचर्चा में चर्चा ही केन्द्र बिंदु होती है जिसमें साहित्यकार या विषय विशेषज्ञ भाग लेते हैं। यह पत्र-पत्रिकाओं में भी प्रकाशित होती है तथा रेडियो, दूरदर्शन पर भी।

वार्ता

यह अंग्रेजी शब्द "टाक" का पर्यायवाची है। इसका प्रयोग रेडियो पर सर्वाधिक देखा जा सकता है।

कोलाज

विविध विधाओं का संगम कोलाज है। विवेकी राय कृत फिर बैतलवा डाल पर कोलाज का अच्छा उदाहरण है जिसमें डायरी पत्र रिपोर्ताज सभी कुछ है। □□

के 40 एफ, साकेत
नई दिल्ली

दार्शनिक परिपृच्छा–एक विवेचन

❑ सपना शर्मा
❑ राजेश शर्मा

परिपृच्छा किसी समस्या को वैचारिक स्तर पर समझने, उसके संभावित दूरगामी निष्कर्षों पर सावधानी पूर्वक विचार करने की वह स्थिति है जहां व्यक्ति उपलब्ध साधनों, विकल्पों, परिस्थितियों एवं सुविधाओं के अनुरूप निर्णय लेता है। दार्शनिक परिपृच्छा किसी समस्या के तार्किक विश्लेषण द्वारा समझने का प्रयास है। यह प्रकृति से तार्किक, प्रतिबिम्बित, अमूर्त चिन्तन आधारित व विषयनिष्ठ है।

मानव जीवन संघर्ष का दूसरा नाम है क्योंकि मानव अपने जीवन में सदैव किसी न किसी प्रकार की समस्या में उलझा रहता है। जब भी वह किसी समस्या से परेशान होता है तब वह समस्या के विभिन्न पक्षों पर विचार कर तथा समझ कर उसके समाधान का प्रयास करता है। इनमें से कुछ समस्याएं ऐसी होती हैं जिनका तत्काल समाधान आवश्यक है जैसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक किस साधन से जाना है, कब जाना है, कौन सा साधन उपयुक्त रहेगा आदि। इस प्रकार की समस्याओं में व्यक्ति उपलब्ध साधनों, विकल्पों, परिस्थिति व सुविधा के अनुरूप चुनाव करता है। इन समस्याओं के साथ ही इनके परिणाम भी तात्कालिक होते हैं। कुछ समस्याएं ऐसी भी होती हैं, जो तत्काल समाधान की मांग तो नहीं करती हैं, किन्तु उन्हें वैचारिक स्तर पर समझने की आवश्यकता होती है, उनके परिणाम दूरगामी होते हैं। ऐसी स्थिति में आधारभूत विचार या मान्यता व उससे प्राप्त होने वाले संभावित निष्कर्षों पर जब सावधानीपूर्वक विचार किया जाता है तब उसे परिपृच्छा कहा जाता है। कोई भी व्यक्ति परिपृच्छा की ओर तब ही अग्रसर होता है जब वह विषम परिस्थिति में फंसता है या ऐसी स्थिति में फंसता है जिसकी वजह से नुकसान या विषाद की संभावना होती है। ऐसी समस्याएं/परिस्थितियां मानव के व्यक्तिगत, सामूहित या राष्ट्रीय स्तर पर हो सकती हैं जो विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित हो सकती हैं— जैसे राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक आदि। इन क्षेत्रों में विभिन्न मुद्दों पर विचार करना होता है जिनका प्रभाव मानव जीवन के विभिन्न पक्षों पर पड़ता है। इस प्रकार की समस्याओं पर विचार का क्षेत्र दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत आता है।

सहज ही मस्तिष्क में प्रश्न उठता है कि जब हम अनेक समस्याओं का समाधान अनुसंधान की वैज्ञानिक विधि से प्राप्त कर सकते हैं, तो ऐसी कौन-सी समस्याएं हैं जिनका समाधान केवल दर्शनशास्त्र ही कर सकता है? क्या वैज्ञानिक विधि इतनी अक्षम है या इन समस्याओं में ही कोई विशेष बात है? हां, इन समस्याओं की प्रकृति ही ऐसी है कि इन्हें केवल दर्शनशास्त्र की सहायता से ही समझा जा सकता है। इसे एक उदाहरण के माध्यम से और स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे भारतीय शैक्षिक क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण विचार है चौदह वर्ष तक के बालकों को निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने का। इस विचार में चौदह वर्ष तक ही आयु के कितने बालक विद्यालय जा रहे हैं, इस आयु वर्ग के कितने बालक विद्यालय नहीं जा रहे हैं, क्यों नहीं जा रहे हैं आदि सवालों के जवाब तो हमें वैज्ञानिक

विधि के आनुभविक प्रदत्तों से प्राप्त हो सकते हैं। किन्तु क्या चौदह वर्ष तक के सभी बालकों को निःशुल्क शिक्षा दी जानी चाहिए, क्या उनके लिए भी जो शुल्क अदा कर सकते हैं, शिक्षा को निःशुल्क व अनिवार्य बनाने से अन्य पक्षों पर क्या प्रभाव पड़ सकता है? क्या किसी जनतांत्रिक देश में विकास के लिए आवश्यक, कार्यक्रम को अनिवार्य बनाना उचित है? इस प्रकार के उचित, अनुचित, निर्णयात्मक पहलुओं पर विचार करना दर्शनशास्त्र का ही कार्य हो सकता है। इन प्रश्नों के उत्तर वैज्ञानिक विधि से प्राप्त नहीं किए जा सकते हैं। इनको समझने के लिए तो हमें दर्शनशास्त्र की ही शरण में जाना पड़ेगा जो अपने उपकरणों से हमें इनको समझने में सहायता कर सकता है।

स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठेगा कि दर्शनशास्त्र और उपकरण ये कैसा मेल है, दर्शनशास्त्र तो विचार का क्षेत्र है इसमें उपकरण का क्या काम? ये विचार ही दर्शनशास्त्र के उपकरण हैं जिन्हें हम तर्क (Logic), मान्यताएं (Assumptions), आधार वाक्य (Propositions) व कथन (Statements) के रूप में जानते हैं। यदि दर्शनशास्त्र की समस्या समाधान प्रक्रिया को समझना हो तो आवश्यक रूप से जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि ये उपकरण क्या हैं, ये कैसे कार्य करते हैं? दर्शनशास्त्र में तर्क, आधार वाक्य व कथन का प्रयोग किया जाता है। इसमें ऐसे कथन जो तर्क से पहले निर्धारित किए जाते हैं, जो किसी कथन को पुष्ट या प्रमाणित करते हैं, जिनके आधार पर निष्कर्ष प्राप्त किए जाते हैं, आधार वाक्य कहलाते हैं।

जैसे— आधार वाक्य — मनुष्य मरणशील है।
राजीव एक मनुष्य हैं।
निष्कर्ष — राजीव मरणशील है।

अर्थात् विचारों के इस संघर्ष में तर्कों का वह समूह जो किसी कथन की पुष्टि करता है आधार वाक्य कहलाता है। इन आधार वाक्यों का एक सुसम्बद्ध रूप से निष्कर्ष प्रस्तुत होना तर्क कहलाता है। इसी प्रकार दर्शनशास्त्र में कथन का अर्थ सामान्य वाक्य से न होकर किसी ऐसी निश्चयात्मक घोषणा से है जो या तो सही हो या गलत हो दोनों नहीं हो सकते हैं। अर्थात् यदि "मनुष्य मरणशील है" एक सत्य कथन है, तो वह असत्य नहीं हो सकता है।

किसी समस्या, विचार या कथन को समझने या स्पष्टीकरण के लिए जब तर्क, आधार वाक्य, कथन का प्रयोग करते हुए जो प्रक्रिया अपनाई जाती है उसे तार्किक विश्लेषण कहा जाता है।

इस प्रकार जब किसी समस्या, विचार को तर्क, आधार वाक्य तथा कथन का प्रयोग करते हुए तार्किक विश्लेषण की सहायता से समझने का प्रयास किया जाता है तब उसे दार्शनिक परिपृच्छा कहा जाता है।

शिक्षा में बहुत से मुद्दों पर सम्प्रत्ययात्मक स्पष्टता की आवश्यकता होती है। दार्शनिक परिपृच्छा की प्रक्रिया को शैक्षिक क्षेत्र के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जाता है। "शैक्षिक अवसरों की समानता" शैक्षिक क्षेत्र का एक प्रसिद्ध जटिल सम्प्रत्यय है। इस क्षेत्र में तार्किक व सम्प्रत्यात्मक स्पष्टता के बिना अनुभवजन्य ज्ञान की शुरूआत नहीं की जा सकती जैसे कि "समानता" क्या है। अवसरों की समानता का क्या अर्थ है? "समान शैक्षिक अवसर" सम्प्रत्यय किस प्रकार बनता है? इनको पहले विश्लेषित व स्पष्ट करना आवश्यक है। यह दार्शनिक अध्ययन का कार्य है कि वह इस सम्प्रत्यय में निहित पक्षों व तार्किक निहितार्थों को स्पष्ट करे। "शैक्षिक अवसरों की समानता" अन्य शैक्षिक समस्याओं की तरह आदर्शमूलक समस्या है। अतः इस पर निर्णय करना आवश्यक रूप से मूल्यों की घोषणा है। इन्हें केवल अनुभवजन्य विचार विमर्श द्वारा स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। इनमें दार्शनिक परिपृच्छा की आवश्यकता होती है। इससे भी तर्कपूर्ण औचित्य कि "शैक्षिक अवसरों की समानता" को मूल्य या श्रेष्ठ रूप में क्यों स्वीकार किया जाए इसका उत्तर हमें दर्शन से प्राप्त होता है।

"शैक्षिक अवसरों का समानता" सम्प्रत्यय के साथ शिक्षा के क्षेत्र में अनेक विरोधाभास भी उत्पन्न हो रहे हैं जैसे कि योग्यता आधारित प्रवेश, समान विद्यालय व्यवस्था, विशेष संस्थाओं में प्रतिभाशाली छात्रों को विशेष शिक्षण, नवोदय विद्यालय शिक्षण संस्थान, उच्च शिक्षण संस्थानों में आरक्षण व्यवस्था, सकारात्मक व सम्पूरक शैक्षिक कार्यक्रम आदि। यद्यपि ये दिखने में आंशिक प्रतीत होते

हैं किन्तु वास्तविक क्षेत्र में. ये सम्प्रत्यात्मक स्पष्टता के अभाव में विरोधाभासी प्रभाव दिखाते हैं। दार्शनिक परिपृच्छा की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति से इन विरोधाभासों को समझने और समस्याओं को सुलझाने में सहायता प्राप्त होती है। दार्शनिक परिपृच्छा के द्वारा विरोधाभासों को पहचानने, विभिन्न दृष्टिकोणों का परीक्षण करने, सम्प्रत्यात्मक भ्रान्तियों व मिथ्या तर्कों का परीक्षण करने, कार्यक्रमों का शैक्षिक अवसरों की समानता के संदर्भ में व्यावहारिक परीक्षण कर क्रियात्मक समाधान प्राप्त किया जा सकता है।

उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट होता है कि दार्शनिक परिपृच्छा पूर्णतया तर्क पर आधारित है। इस प्रकार की दार्शनिक समस्याओं को वैज्ञानिक विधि के आनुभविक ज्ञान से नहीं समझा जा सकता है। यह एक वैचारिक प्रक्रिया है जो कि पूरी तरह से अमूर्त चिन्तन पर निर्भर है। अमूर्त चिन्तन व विचार पर आधारित होने के साथ-साथ यह विषयनिष्ठ भी है। इसमें समस्या या विचार को इतिहास, पृष्ठभूमि व प्रभावित करने वाले कारकों के संदर्भ में ही समझा व स्पष्ट किया जा सकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि किसी एक समस्या का जो स्पष्टीकरण एक संदर्भ में प्राप्त हुआ वही दूसरे संदर्भ में भी प्राप्त होगा। इसीलिए यह प्रतिविम्बित भी है क्योंकि एक समस्या के स्पष्टीकरण से कई अन्य पक्ष जो उस समस्या के संदर्भ व इतिहास से जुड़े होते हैं वे भी सामने आ जाते हैं। इसके माध्यम से अनेक विषय क्षेत्रों की समस्याओं को समझा जा सकता है। इस प्रकार दार्शनिक परिपृच्छा प्रकृति से तार्किक, प्रतिविम्बित, अमूर्त चिन्तन आधारित व विषयनिष्ठ है।

दार्शनिक परिपृच्छा की प्रकृति की स्पष्टता के पश्चात् यह जानना आवश्यक हो जाता है कि दार्शनिक परिपृच्छा की अपरिहार्य संस्थितियां कौन सी हैं जिनके बिना इसकी प्रक्रिया पूरी नहीं होती है। इस प्रक्रिया का प्रारंभिक पद है समस्या की उत्पत्ति। मानवमात्र की प्रवृत्ति ही ऐसी है कि जब तक वह विषम परिस्थितियों में नहीं फंसता तब तक वह उन परिस्थितियों की कल्पना भी नहीं करता। स्वाभाविक भी है जब तक कोई गंभीर समस्या उत्पन्न नहीं होगी तब तक कोई क्यों सोचेगा, जब तक सवाल पैदा नहीं होंगे तब तक जवाब प्राप्त करने का प्रयास कोई क्यों करेगा? जब व्यक्ति के समक्ष कोई गंभीर समस्या उत्पन्न होती है तब वह समस्या के विभिन्न पक्षों के विषय में विचार करता है, समस्या के इतिहास, उससे सम्बन्धित पक्षों के संदर्भों, उसको प्रभावित करने वाले कारकों के विषय में जानने का प्रयास करता है। इस प्रकार समस्या का अनुभव होने पर व्यक्ति समस्या की पृष्ठभूमि को समझने का प्रयास करता है।

जब व्यक्ति समस्या की पृष्ठभूमि के संदर्भ में समझता है तब व्यक्ति को समस्या की गहनता व गंभीरता की अनुभूति होती है। समस्या की गंभीरता की अनुभूति से उसको परिणामों की गंभीरता का अनुमान होता है। परिणामों की गंभीरता के अनुमान मात्र से व्यक्ति समस्या को समझने हेतु व्याकुल हो जाता है। यह व्याकुलता व्यक्ति को समस्या समाधान की ओर अग्रसर करती है।

समस्या के प्रति व्याकुलता होने पर शान्तिपूर्वक नहीं बैठा जा सकता। ऐसे में समस्या समाधान के लिए प्रयास किए जाते हैं। यह प्रयास पूर्णरूपेण समस्या केन्द्रित होते हैं। इसी स्तर पर व्यक्ति दर्शन के उपकरणों अर्थात् तर्क, कथन, आधार वाक्यों का प्रयोग कर तार्किक विश्लेषण विधि की सहायता से समस्या को समझने का प्रयास करता है।

तार्किक विश्लेषण विधि से समस्या या विचार को समझने के उपरान्त ही कहा जा सकता है कि उस समस्या विशेष के समाधान न करने से क्षेत्र विशेष पर क्या प्रभाव हो सकते हैं? यदि किसी विचार का क्रियान्वयन करना हो तो उसके संभावित लाभ/हानि क्या हो सकते हैं? उसके दूरगामी परिणाम क्या होंगे? कहीं ऐसा तो नहीं कि उस विचार के क्रियान्वयन के फलस्वरूप प्रत्यक्षतः अच्छे परिणाम दृष्टिगत हो किन्तु अप्रत्यक्षतः दुष्परिणाम हों या एक पक्ष पर बहुत अच्छा प्रभाव हो किन्तु दूसरे पक्षों पर प्रतिकूल प्रभाव हो रहा हो। इस प्रकार की भविष्यवाणी दार्शनिक परिपृच्छा का अंतिम पद है।

दार्शनिक परिपृच्छा समस्या या विचार को तार्किक विश्लेषण द्वारा समझने का प्रयास है। इस प्रक्रिया द्वारा समस्या का समाधान प्राप्त नहीं होता वरन् समस्या को

पृष्ठभूमि के संदर्भ में समझने का प्रयास किया जाता है। दार्शनिक परिपृच्छा की प्रक्रिया में समस्या की उत्पत्ति, व्याकुलता, प्रयास व भविष्य कथन पर आवश्यक रूप से निहित है। ◻◻

प्रवक्ता, शिक्षा संकाय
वनस्थली, विद्यापीठ

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

ब्रुबेकर, जॉन एस, मॉड्न फिलॉसोफीज ऑफ एजुकेशन, मेकग्राहिल बुक कं., 1962
बुच, एम.बी. (एडी.) फोर्थ सर्वे ऑफ रिसर्च इन एजुकेशन (1983-88) खंड-1, एन. सी. ई. आर. टी., नई दिल्ली-1991
देसाई, पद्मनाभन, एन एनेलिटिकल स्टडी ऑफ एन पी ई 1986 एण्ड पी ओ ए, एम.फिल. डिसर्टेशन, केस, एम. एस. यूनिवर्सिटी, वड़ौदा 1992
फ्रोलॉव, आई (एडी), डिक्शनरी ऑफ फिलॉसोफी, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को, 1984
हुसैन, टॉर्स्टन एण्ड पॉस्टलेथ्वेट, टी.नेविले (एडी.) इन्टरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया ऑफ एजुकेशन, पर्गमेन प्रेस, एडीशन II, वोल्यूम 3
सोढी, टी.एस., संघू, जी. एस. एण्ड सिंह, एस.वी., फिलोसोफीज ऑफ एजुकेशन, द इण्डियन पब्लिकेशन, अम्बाला कैण्ट इण्डिया, 1988
ठाकुर, ए.एस., द फिलॉसोफिकल फाउण्डेशन ऑफ एजुकेशन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1977।

प्रारंभिक स्तर पर गुणात्मक शिक्षा के संकेतकों पर 6वीं अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी दिसंबर 13-15, 2000

केन्द्रबिंदु — संगोष्ठी का केन्द्रविंदु विशेषकर प्रारंभिक स्तर पर गुणात्मक शिक्षा के संकेतकों से सम्बद्ध अनुसंधानों पर है।

आमन्त्रित लेख — पूरा और अन्तिम लेख 300-400 शब्दों के एक सारांश सहित 4000 शब्दों से अधिक न हो, ए-4 आकार के पृष्ठ पर डबल स्पेस में टंकित 31 जुलाई, 2000 तक एन.सी.ई.आर.टी. के संपर्क पते पर पहुंच जाना चाहिए।

संपर्क

डा. वेद प्रकाश
प्रोफेसर और अध्यक्ष, डी.पी.ई.पी.सी.आर.जी.
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग
नई दिल्ली - 110016, (भारत)
फोन : 91-11-6515382
फैक्स : 91-11-6868419, 91-11-6864141
ई-मेल : dirc @ giasd101.vsnl.net in

विस्तृत जानकारी के लिए कृपया संपर्क पते पर लिखें।

अध्यक्ष, प्रकाशन प्रभाग द्वारा राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110 016 के लिए प्रकाशित तथा दीपक प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स, 6/269 डूंगर मौहल्ला, पांडव रोड, शाहदरा, दिल्ली 110 032 द्वारा मुद्रित।

behavior of the child An effort was made to change the parental behavior through a simple training program designed in the light of our present knowledge to bring about a modification of those parental characteristics which had correlated significantly with certain behavior characteristics of the child After the training period was instituted and some time had elapsed for the suggested changes to have taken effect, the children were again rated by the same observers and these ratings were compared with their initial ratings in order to obtain the results of experimental training

Subjects

The thirty-three children used as subjects were all enrolled in a recognized preschool They ranged in age from two years, one month, to five years, six months, with the median at four years, five months They were above the average in both physical and socio-economic status, coming mainly from homes where the father belonged either to the professional or business class Only several could be assigned to the laboring class

Definition of Categories Used in the Study

Categories Used in Describing and Rating Parental Behavior In obtaining a description of parental behavior, attention was centered on five patterns or characteristics These characteristics were carefully defined and a guide consisting of numerous specific questions was prepared for use in the interview It was desired to sample the parental behavior and from specific instances to derive a summary expressed in the form of a rating on a 7 point scale The reliability of this general procedure was tested in a limited area by Ackerley (1) and by Ojemann and Neil (9) and found reasonably satisfactory The five characteristics for which ratings were obtained are defined as follows

1 Parent excessively protects child *vs* definitely rejects child This may be referred to as protection-rejection category

2 Parent uses a logical scientific approach *vs* parent uses illogical unscientific approach Referred to subsequently as logical *vs* illogical approach

3 Parent encourages development and expression of ideas *vs* discourages development and expression of ideas

4 Parent fosters social development *vs* inhibits social development

5 Parent provides calm, happy home life *vs* parent provides home full of tension

In all categories a consistent attitude was required on the part of the parents The investigator was aware of such disguises and defense mechanisms as compensation, idealization, and rationalization That is, the structure of the behavior act was taken into strict account For example, wherever the parent appeared to be very logical and scientific in her method and it was discovered by her remarks or by other indications which pointed to an unscientific, illogical approach in handling the child, the overt manifestations of her disguise were not considered and the parent was rated as illogical in her parental practices. The same reasoning applies to the other categories

Category I In Category I, the home environment was given a rating of 1 if the parent was distinguished by such behavior as prolonging infantile care, excessive contact with the child, preventing development of the child's independence, or by either an excess or lack of control over the child, not permitting him to make any risks whatever so that he may learn how to remove difficulties A rating of 7 was alloted that home environment where the parent felt little responsibility for the child, was indifferent to him, or actually resented and repulsed the child A rating of 4 is an indication that the parent strives to achieve a neutral attitude, that the child is taught to perform tasks suitable to his age level, that the parent is not overconscientious and does not worry excessively about the child's safety and yet is not indifferent to his actual needs or does not fail to administer proper care of the child Also a rating of 4 means that while there is no excessive contact with the child, he is not denied the affection and attention necessary to his development since the parent is aware of child's interests and satisfactions

Illustrations of data obtained in the interview which determined the rating of the home environment in relation to Category I follow The detailed list of questions used as a guide in the interview is given in the copy of the thesis on file at the University of Iowa library

Home Environment Rating 1

Question If your child's tricycle is stuck in a crack, do you get it out for him or do you tell him how to get it out and let him do it himself?

Answer I get it out for him He starts to cry and I can't stand to hear him cry It upsets him and makes me feel sorry for him I want to help him

Question Suppose your child wakes up in the middle of the night and begins to cry, do you go to him immediately? What do you say?

Answer Yes, I do I say, "Mummy is here, she'll take care of you"

Home Environment Rating 4

Question Do you plan everything at home with the child in mind?

Answer No (Then gives several illustrations indicating that the child is one of a number of things considered)

Question Do you refuse invitations because you don't like to leave your child in the care of the maid?

Answer No, not if I have a reliable maid who has proved trustworthy

Question Do you believe that being stern and cold to your child will aid him in being obedient and at the same time self-reliant?

Answer No, of course not He has to be tempered but I believe in being firm when the occasion demands, not cold and stern

Home Environment Rating 7

Question Do you ever simply ignore the child's apparent trouble and continue with your own work?

Answer Hm, most of the time

Question Suppose your child desired some toy which you could not afford without denying yourself something you needed, would you get it for him, would you explain the matter to him, or would you simply buy him something else?

Answer I wouldn't get it or anything else for him, nor would it do any good to explain to him He just has to play with what he has

Question Would you like to keep your child in a condition of babyhood as long as you possibly could?

Answer I should say not He can't grow up fast enough to suit me

Question Do you worry about whether your child brushes his teeth clean enough?

Answer No, I really don't know if he does or does not brush his teeth

Category II Logical vs Illogical Approach It is the writer's opinion that of all the parental characteristics measured, this pattern may be the most important in influencing the development of the child Perhaps we may make the assumption that those parents who make a genuine effort to guide their own behavior by reason rather than by emotion are more likely to be characterized by an open, progressive mind, one which is constantly putting forth effort to release itself from hasty, unverified generalizations, errors, and prejudices

A home environment was given a rating of 1 if the parent fostered self-reliance and responsibility in the child by practically and methodologically teaching him the routines of dressing, eating, sleeping, and toileting, if the parent assigned to the child tasks of reasonable but real difficulty, if the parent was relatively impartial in his attitude toward the child, answering his questions concerning the world and

himself and the relation between the two by frank answers and keeping the child's mind on the alert and open, and, finally, if the parent utilized consistent guidance and discipline in handling the child

A rating of 7 was assigned that home environment in which the child was not trained to be reasonably self-reliant nor responsible for his own needs, in which there was an inconsistency of discipline, and where the parent answered the child's questions concerning sex, nature, and God, not in generally accepted laws and theories known to exist, but in terms of prejudicial and conjectural opinions Such a home environment makes little attempt to teach the child the ability to attack his own problems nor does it teach him how to invest them with any interest or vigor

Rating 4 means that the parents themselves are still groping, sure of themselves and their procedures in certain situations and inconsistent and ignorant in others

Category III Favors and Encourages Development and Expression of Ideas Rating 1 was determined by such criteria as parental fostering of mental, musical, and mechanical activity through provision of adequate materials and situations evoking favorable responses, parental entrance into imaginative and constructive play with child and encouragement of further contemplation and action in the child by praising and appreciating his mental and emotional growth

A rating of 7 on this category would mark a home environment in which the child's curiosity was not stimulated, where the parents made no effort to provide the child with rich and meaningful situations which in turn provide for his mental content, and where no assistance was given to clarify the child's ideas Not only may a parent rating 7 fail to provide the child with stimulating experiences, but such a negative rating may be indicative of a parent who actually dulls or stifles the child's abilities by punishing him for destructiveness or discouraging him by lack of praise and even through ridicule, laughing at effort and criticizing child for his shortcomings, rather than praising him for what he has accomplished

Category IV Fosters Social Development vs Inhibits Social Development Relative to this category, rating a home environment as 1 involved the following considerations first, the parent himself, his ability to provide an adequate example of desirable conduct This requirement has been designated in the literature as being highly significant in guiding the child's development, for then the child has an opportunity to learn something of the meaning and significance of

intercourse with others A second consideration is placing of emphasis upon the child's awareness of himself in relation to the group, the child being drawn into discussions concerning social welfare And the third desideratum is the parental effort in providing successful social opportunities to insure the child a certain amount of success in social situations so that he may be stimulated to further social participation

A home environment rating 7 would be considered as an indication that the parents extend little effort to provide the child with a locale where he may have experience in the process of accomodation, in other words, where few or no provisions are made to acquaint the child with the world outside of his immediate home environment so that he lacks opportunity to practice the techniques essential for fundamental adjustments Many homes in which there is a variety of social situations were nevertheless rated 6 or 7 because these situations in which the child was found were of such a nature as to be entirely too advanced for his particular stage of development He either failed in them completely or experienced discouragement with the consequence of withdrawal from later social situations

It is obvious that homes in which the parents themselves were totally lacking in social consciousness, never participating or contributing to society, were considered as extremely negative to social development

Category V Calm, Happy Home Life vs Home Filled with Tension Several indices were used as indicators for this study A home environment rating positively was defined as relatively free from tension if the parents themselves were emotionally stable and secure, that is, if they seemed to be adequately adjusted to life, having discarded infantile habits of behavior and having accepted the role of maturity A calm, happy home life was further characterized by parental harmony, co-operative feelings, mutual understanding and affection, in other words, mental and physical compatibility between parents which produced intimate feelings of appreciation and sympathetic responsiveness to the children in the family

Home environments rating 7 included such points of reference as the following projection of parental ambitions upon children, preferential attitudes toward child, interference in the form of in-laws living in the home environment or close by, and underlying these, a lack of harmonious relationships between the parents

Classification of Children's Behavior

Eleven patterns covering a considerable range of behavior were studied They include plays with group *vs* withdraws from group, self-reliant behavior *vs* dependent behavior, ascendancy *vs* submissiveness, selfish behavior *vs* unselfish behavior, sadistic behavior *vs* absence of sadistic behavior, nervous habits *vs* relative absence of nervous habits, security *vs* insecurity, co-operative *vs* resistant behavior, perseverance *vs* lack of perseverance, and responsibility *vs* irresponsibility

Each designated classification carries certain implications which are mentioned so that the reader will be more certain of the qualities inherent in each behavior pattern The writer is aware of the lack of fineness in this classification but the intention was not to create a complete rating scale, but rather to restrict attention to a selected group of behavior patterns and define each

Plays with Group vs Withdraws from Group Children were considered as being adjusted to group activity who were able to engage easily in group activity of their own accord, desiring and inviting other children to play, and in general contributing to the group as a social being.

Withdrawal from group was gauged by child's preference for solitary play, indifference, animosity, or apathetic attitude toward other children In other words, as a rule making no effort at group participation and in general making no contribution to group participation.

Self-Reliance vs. Dependent Behavior A child was classified as self-reliant, who, relative to his age level, was capable of performing such routines as dressing and undressing, eating, sleeping, and toileting, who possessed the ability to act on his own initiative and to settle difficulties without appealing for unnecessary adult aid

The dependent child, on the other hand, is one who is unable to perform the above mentioned procedures independently and who has to appeal to teacher for aid in settling minor difficulties

Ascendancy vs Submissiveness Jack's (7) definition of ascendant-submissive behavior was used as an index in rating this behavior pattern

Selfish vs Unselfish Behavior. Selfishness was identified by a child's refusal to share possessions with other children, refusal to consider sug-

gestions of others, believing self always to be in the right, self-centered, monopolizing toys, insisting upon own choice of story, song, or plan, and indifferent to rights of others

Such characteristics as a child's willingness to share belongings with other children, and the disregarding or subduing of own desires to consider and accomodate those of other children, were used as indices of unselfish behavior

Sadistic Behavior vs Absence of Sadistic Behavior A child was rated as being sadistic who teased children or adults deliberately to annoy them, laughed or was indifferent to distress of others, mistreated animals, and bullied, pushed, intimidated, kicked, or frightened children, delighting in their discomfiture

Omission of certain reactions was also used as an indication of sadistic tendencies That is, wherever a response should have been forthcoming (as, for example, child falling off swing and being in need of help, and another child merely standing by and doing absolutely nothing), the omission was rated as a controlled sadistic tendency

Nervous Habits vs Relative Absence of Nervous Habits A child who revealed either several or many of the following patterns to a marked degree was rated as possessing nervous habits thumb sucking, nail biting, fears, enuresis, masturbation, excitability (crying, laughing excessively or unnecessarily), speech defects, and distractability

Any child in whose behavior the above mentioned patterns were relatively absent was rated as being free from nervous habits

The term "relatively" is used to denote that many patterns such as thumb sucking, nail biting, and so on are normal infantile reactions which are eliminated with increasing age It is only where these habits persisted past a defined age level and were noticeable to a marked degree that they were considered as nervous habits

Security vs Insecurity A child was classified as being secure whose behavior was characterized by self-assertiveness without too great forwardness or presumptuousness Also a child was classified as secure who seemed sure of himself and attacked his problems with ease and lack of excess emotionality

Insecurity was detected by such behavior as the child shrinking, cringing, or crying in the presence of others, tendency to be easily humiliated, withdrawal from group, and state of apprehensiveness or fearfulness Some children manifest insecurity by being disobedient, re-

senting discipline or correction, and being generally uncontrollable These compensatory patterns may be considered due to insecurity

Resourcefulness vs Lack of Resourcefulness The following behavior acts were used as indices of resourcefulness child's ability to show finesse, aptitude in seizing upon new relations, and energetically and discriminatingly making use of his powers The resourceful child is one who shows his interest in story or discussion by being able to ask relevant questions pertaining to story and contributing to discussion by relating personal experiences He is also resourceful if he is interested in his environment and asks for information concerning it, also, if he tirelessly and ingeniously explores the environment

Lack of resourcefulness distinguishes the child who when play apparatus has broken down, stands around waiting for someone to help him or suggest another activity for him, or still further, when faced with any problem finds no way of attacking it

Co-operative vs Resistant Behavior In measuring co-operative behavior such reactions as the following were considered the child's ability to get along in the group, working in the group toward group objectives, interest and consideration for other children which in turn involves sharing possessions and ideas with them, and aiding them when help is desired Perhaps we may say that the constituent element looked for in co-operativeness, was the child's ability to contribute something *to* the group as well as to extract *from* the group

Resistant behavior was easily discerned by the child's acting contrary to teachers' suggestions, refusing to comply to routine situations, and bossing and disturbing other children

Perseverance vs Lack of Perseverance Rating of perseverance includes the child's ability to concentrate on one activity over a period of time, that is, continuing an activity to his own satisfaction, carrying problem or activity through in the face of discouragement or obstacles The term is used here as persisting in a desirable direction rather than merely remonstrating or opposing authority

The child lacking perseverance is marked by wasting time (dawdling) at routines, and leaving tasks incomplete

Responsibility vs Irresponsibility The indices used in measuring responsibility were as follows. child's trustworthiness as well as his ability to perform such tasks as taking off his wraps, hanging them where they belong, going to the toilet by himself, getting his rug for

rest period, and other matters of routine Further, the child's respect for the property of other children, ability to think things out for himself, awareness that he is held answerable for certain conduct and for certain obligations determined his rating as to responsibility

The irresponsible child was detected by his untrustworthiness in maintaining certain required conditions, or by his failure to accomplish his share of the work or to assume certain obligations Such a child is unaware that as part of the group he is answerable for certain conditions and requirements ' He tends to make excuses or alibis for his behavior

Reliability of Children's Ratings

The reliability of the ratings of child behavior was determined by correlating rater 1 with rater 2, rater 1 with rater 3, and rater 2 with rater 3 Since the children were accustomed to having the teachers around and were unaware of the fact that they were being observed, the writer believes that a fairly typical sample of behavior was obtained (Table 1)

Procedure in Interview with Parents

Most of the data were obtained from the mother Whenever the interview with the mother seemed to indicate that she was not familiar with the situation, or gave evidence of uncertainty, the father was also consulted The duration of time of the interview was from two to two and one-half hours and in several cases even longer

The investigator tried to make the interview as informal as possible so that there would be a certain amount of free association as well as

Table 1

Reliability of Ratings of Child Behavior

Pattern	Raters		
	1 and 2	1 and 3	2 and 3
1 Seeks group or withdraws from group	83 ± 03	84 ± 03	81 ± 04
2 Self-reliant *vs* dependent behavior	80 ± 04	78 ± 05	78 ± 04
3 Ascendancy *vs* submissiveness	78 ± 05	77 ± 05	76 ± 05
4 Selfish *vs* unselfish behavior	79 ± 04	76 ± 05	80 ± 04
5 Sadistic *vs* lack of sadistic behavior	71 ± 06	69 ± 06	71 ± 06
6 Nervous habits *vs* relative lack of nervous habits	81 ± 04	83 ± 03	81 ± 04
7 Security *vs* insecurity	80 ± 04	79 ± 04	77 ± 04
8 Resourcefulness *vs* lack of resourcefulness	82 ± 04	78 ± 04	78 ± 04
9 Perseverance *vs* lack of perseverance	82 ± 04	82 ± 04	62 ± 04
10 Co-operative *vs* resistant behavior	80 ± 04	78 ± 04	80 ± 04
11 Responsibility *vs* irresponsibility	81 ± 04	78 ± 04	77 ± 05

descriptive answers to specific questions. In most cases very little expenditure of effort was needed to establish rapport with the parents who seemed only too eager to discuss their personal problems, especially with one who they felt was psychologically trained at least to listen They yielded not only answers to the specific items of the questionnaire, but volunteered information concerning the most intimate familiar relationships It seemed as if the parents sensed a silent understanding between themselves and the investigator, consoling themselves with the thought that after all they are supposed to be just a case study buried in the files somewhere, their identities completely submerged in scientific data. The only difficulty the investigator experienced was in directing the parent's attention to the next question instead of allowing them to elaborate at great length on certain factors in their own familial pattern They also wished the investigator to act in a psychiatric capacity, every now and then turning to her for verification or an immediate prescribed solution for their difficulties The writer was interested in the fact that after the interview, several parents made the following remark "You know a great deal about me now, don't you?" Other parents commented to the director of the preschool saying, "I'm afraid to see the writer again She knows more about me than anyone else"

Treatment of Data

Most of the comparisons are based on Pearson product moment correlations In interpreting these results in accordance with statistical procedures, any correlation greater than four times its probable error has been considered statistically significant In other words, when any correlation is greater than four times its probable error the assumption can be made that it is practically certain that all of that correlation cannot be accounted for by chance, that there must be some relationship in the direction indicated by the correlation

According to Holzinger's tables (6) a correlation coefficient of 40 (P E. ± 08) is the lowest correlation obtained from comparing thirty-three cases which will satisfy the requirements stated above. Therefore, any coefficients of 40 or greater are considered statistically significant Very little consideration has been accorded a correlation lower than 40 since we are not certain that a relationship does exist.

However, several correlations were obtained that on a scatterdiagram revealed a distinctly nonrectilinear relationship. In these cases the

use of the Pearson product moment is not valid because it is based on the assumption that the relationship is rectilinear Therefore, to determine the degree of relationship between these variables, a correlation ratio was obtained in order to discern a true picture of the existing relationship. All scatterdiagrams were inspected and those giving a hint of curvilinearity were tested for linearity

Analysis of Data by Correlational Procedure

In describing the general procedure, it was indicated that five characteristics of parental behavior were studied The ratings of parental behavior were correlated with the ratings of certain types of child behavior patterns Here the data are analyzed in order to determine the nature and extent to which parental factors in the home environment correlate with the behavior of the child The data are given in tabular form and analysis of data follows each tabulation The extremely low correlations have been deleted

Correlation of Child Behavior with Protection vs Rejection

The following tabulation presents the relationships between protection *vs* rejection in the home and behavior characteristics of children as found in this study

Child Behavior Patterns	Correlation
Nervous habits	73*
Security	—63*
Sadistic	—56 ± 08
Seeks and plays with group	—54 ± 08
Ascendancy	—53 ± 08
Self-reliance	—43 ± 09
Responsibility	—36 ± 10
Perseverance	—30 ± 11
Co-operativeness	24 ± 11
Selfishness	18 ± 11
Resourcefulness	12 ± 11

*Curvilinear

On the basis of these correlations it is seen that excessively protected children tend to avoid seeking and playing with the group while rejected children tend to seek the group The tabulation also reveals that even when they enter into the group, overprotected children tend to be submissive From an analysis of the comments made by the observers who rated the children, it was learned that the submissiveness of the overprotected child may take one of two forms extreme docility, or a refusal to do his share of group activity, motivated in turn by an inability to assume responsibility The ascendancy of the

rejected child was characterized by rather distinctly aggressive tendencies such as bullying, quarreling, and showing off, even if it meant using physical force such as shoving, grabbing toys, and pushing. Children with such characteristics seemed less able to compromise, less able to use subtle techniques in gaining dominance seeking rather to attain their own ends at all costs and stubbornly refusing to comply with the demands of others in the group. Concomitant with these aggressive tendencies a positive relationship with sadistic tendencies was found. From the writer's knowledge of the patterns of the parental behavior, the sadism exhibited by the rejected child may be due to one of two factors: either the child, because of having himself experienced repulsion, compensates by hurting someone or something else (the writer is thinking of two children in particular, one who squeezed a rabbit to death and another who delighted in shoving children against a hot radiator) as an outlet for the emotion of anger which the repulsion may have stimulated, or secondly, he may, due to lack of actual education and experience, be sadistic, not knowing what it is to experience sympathy, affection, or compassion. He may think that such behavior patterns as he is subjected to are natural. It is perhaps worthwhile to emphasize that where rejection actually takes the form of physical repulsion we may find the child constantly on the defensive, uncertain of the adult's reactions.

A plausible explanation for these relationships may perhaps be that the overprotected child does not feel the need for companionship and identity with the group for he is already too strongly attached to and identified with the home. And even when he does enter the group his submissiveness may be explained either by the fact that he is not primarily interested in the group or that he is submissive simply because of excessive maternal control which leaves him ignorant of how to be independent. Furthermore, the overprotected child is more concerned with receiving attention from the adults present, since his satisfactions are derived from association with adults. Therefore, he runs after the teacher or mother, whining, clinging to her garments, crying, and manifesting other infantile traits designed to direct attention to himself. In several cases when all the artifices to gain attention failed, the child learned to surrender and became more co-operative. That is, he found that in doing what was expected of him, he gained the adult attention and praise on which he had thrived so well at home.

The rejected child, on the other hand, because he does not derive enough satisfaction from the home, because he is not pampered, petted,

or praised enough, tends to seek an opportunity to exert his ego outside of his home environment. He attempts to find a substitute source for recognition and forces himself upon the group. The word "recognition" would thus seem to be an important clue to the aggressiveness of the rejected child, since being recognized by a group and possessing a feeling of belonging to a group are entirely two different things. One can be recognized by a group without feeling any security as a member of this group. The results of such insecurity will be brought out more distinctly further on. The rejected child, then, may actually gain all the attention he is seeking in order to justify himself.

However, these substitute devices either of the rejected child in dominating the group or of the overprotected child in withdrawing from the group, even though inwardly he would like to participate, do not remedy the underlying personal maladjustments, as is borne out from further examination of the tabulation (p. 77). Both extremely protected and extremely rejected children tend to show more nervous habits and a greater feeling of insecurity. This may be significant since it points out that the maladjustment is exacting its toll in strain upon the total personality of the child. In this regard it is significant that though both types are characterized by nervous mannerisms and insecurity, the overt manifestations of the behavior are often different. The nervous habits of the overprotected child are a reversion to infantile habits such as thumb sucking, finger sucking, temper tantrums, fears, excessive whining, and crying, while the rejected child, as we said before, is constantly on the defensive. His body stiffens, he may become sullen and sulky or grumble and frown. He may be easily humiliated, may fly into a silent rage exhibiting restlessness, jerky body movements. Enuresis, masturbation, and stuttering are involved in both these types.

It is perhaps important to analyze further the plausible reasons for nervousness and insecurity. We discern from the previous tabulation that the overprotected child tends to lack security. A plausible reason for this may be as follows. How can a child whose every whim is catered to, whose infantile characteristics are being prolonged by excessive care and contact with the parent, learn to do things for himself when he has always had everything done for him? When he is placed in an environment which requires independence and self-reliance, he is at a disadvantage. His method of attacking the situation is to seek someone in this new environment whom he can identify with the parents who provided satisfaction for him in the beginning. When he fails,

he is at a loss to know how to adapt himself His infantile patterns failing, he can only accentuate them, make them so intense that sooner or later the adult will submit to him Or he might simply surrender into undue obedience without deriving any understanding or satisfaction from the behavior

The rejected child tends to be insecure perhaps because he is suspicious of the fundamental sincerity or the purpose of the group in which he finds himself We must not lose sight of the fact that children may react even more quickly to our inner attitudes and to the undercurrents which are set in motion where emotions are involved The rejected child, constantly being thwarted and denied, may find overt patterns for covering up his deficiency and hunger for affection and attention, but underlying these patterns we find frustration, tension, and a sense of inferiority which engenders insecurity A common defense for insecurity and inferiority in the adult as well as in the child is negativism, a stubborn refusal to comply to social demands, often accompanied by sadistic behavior The rejected child in defense becomes wary, rebuffing anyone who does want to give him understanding and affection

Correlation of Child Behavior with Logical Scientific Approach vs. Illogical Scientific Approach

The data in this study give evidence which tends to indicate that four types of behavior are fostered by the parent's logical pragmatic approach to the behavior of their children self-reliance, responsibility, resourcefulness, and perseverance There tends to be a negative relationship between nervous habits and a logical parental approach

From the time the child is brought into the world, the aim and guiding task of parents and educators is to conduct the child from dependency and irresponsibility to independent adaptability

From a study of the following tabulation we see that the logical

Child Behavior Patterns	Correlations
Self-reliance	57 ± 08
Resourcefulness	52 ± 09
Responsibility	49 ± 09
Perseverance	45 ± 09
Nervous habits	—40 ± 10
Co-operativeness	.35 ± 10
Sadism	11 ± 12

method of approaching the child has in a measure been successful in

guiding the subjects of this study toward the practical goals of childhood education, it has tended to produce in the child such types of behavior as self-reliance, sense of responsibility, and perseverance—behavior which may enable him to face reality and cope with it

Upon analysis it appears to the writer that perhaps the two most outstanding characteristics of the logical scientific method which produced the above mentioned results are consistency and an attempt at an understanding of causal relationships That is, the child must learn to perform simple routines, and he seems to learn them more easily if he is not forced to perform these acts by arbitrary assertion of parental authority Also, it would seem that the child has more difficulty in learning to be obedient if a rule that is enforced today by the parent is broken tomorrow by the child's teasing or temper tantrums And, too, whenever the child is given to understand the reason for certain things, there can be little conflict of fundamental desires between parent and child From the data we find that this conflict may be eliminated by giving the child an opportunity to exercise a certain choice in the matters which pertain to him If a child is part of every act, if it initiates from him as well as being merely carried out by him, he may be able to perform the act more easily From still further examination of the data, we find that parents who are consistent in their procedures, whose demands upon the child do not greatly exceed his capacities at the moment, who in other words themselves possess the techniques involved in a logical approach to the problems of their children, train children who are better able to perform the routines which make up their early regime These children tend to be more self-reliant, responsible, and persevering, as reference to the correlation in the preceding tabulation will indicate

From the rater's observations we find that many children, as soon as they begin to reason, become prolific questioners, asking the same questions again and again From the data there is some indication that those parents who are tenacious in directing and shaping the child's ideas, who are vigilant in giving him their attention, in showing him new relations—these children scored a higher rating on self-reliance and resourcefulness Those parents who attempted to answer their children's questions concerning God, nature, and sex, and the like, in as simple but exact way tended to encourage in their children and foster in them techniques consisting of habits of analysis gained through practice with actual problem-solving From the data gathered in the interview there is some indication that these parents did not stop with

the questions the child put before them but tried to push observation of the child further stimulating in him a sense of enthusiasm for discovery and the satisfaction derived from an interrelatedness of things they have observed

In analyzing resourcefulness further it was found that those parents who themselves manifested a desire for truth and an impartial attitude, who stressed the fact that knowledge was a dynamic concept tended to instill in their children the nucleus of intellectual curiosity and a technique for attacking their problems These children seemed easier to reason with, asked more questions desiring to know how certain things happened and why, revealed more curiosity about places which they had seen or heard about, were more able to contribute to a discussion by relating certain of their own experiences, revealed a sustained interest in discussion and seemed to possess a certain amount of ability in recognizing inappropriate or irrelevant remarks made by other children during the discussion

Correlation of Child Behavior which Encourages Development and Expression of Ideas vs Discourages Development and Expression of Ideas

According to the following tabulation the children in this study whose parents encourage development and expression of ideas tended to show a fairly high degree of resourcefulness, self-reliance, perseverance, and co-operativeness

Child Behavior Patterns	Correlations
Resourcefulness	60 ± 08
Co-operativeness	50 ± 09
Perseverance	42 ± 10
Self-reliance	40 ± 10
Responsibility	39 ± 10
Nervousness	—37 ± 10
Sadism	—17 ± 11

In thinking through all the significant data revealed by the parents, it was found that in those homes where the parents and children share experiences in common, where the child is supplied with materials which will stimulate and provoke him to activity, the child shows a tendency to be more aware of and interested in his environment and more resourceful in interpreting his experiences For example, in those homes where the child is allowed to take the clock apart without his activity being looked upon as mere destructiveness or negativism, he seems to show mechanical and more manipulative ability Also, those

parents who share in the child's imaginative play, as indicated by such question as, "Suppose you come home and find your child has built a room of blocks across the living room and says that where he is standing is water, what do you do?" as well as allowing the child to share in many of the experiences satisfying to the adult, seem to widen the expanse of the child's environment and stimulate resourcefulness It is also interesting to note that those children who had an opportunity to hear music and were taught early if not to keep time, to recognize an air, seem according to the observer's comments more eager for the music period and more interested in it In this connection, the data also seem to indicate that those children who were encouraged in the use of mechanical projects and allowed the use of various tools, were the better able to handle manipulative and constructive play materials It was most interesting to the writer to hear many parents enumerate and evaluate various materials with which they provided their children, form boards, puzzles, clay, paints, and the like

It was interesting to detect the positive relationship existing between the parents' realization that ideas and experience are necessary to one's interpretation of life and the influence this may have upon the child's awareness of the world about him.

From further analysis of the data we find that children whose parents enter into various kinds of imaginative play with them according to the rater's observations do not usually stand around waiting for someone to suggest an activity for them, but show ingenuity in making up new games, or, when play apparatus such as, for example, swings or tricycles have broken down, usually make an attempt to fix them

It seems that those parents who are able to inject a certain zest into the most simple, but what to the child may be the most interesting activities, such as watching a man dig a ditch, watching the monkeys perform in the zoo, working out a puzzle or form board, etc , tend to stimulate creative ability in their children and lend vividness to their already half-formed concepts A mother told the writer that although she had been to the zoo many times, she had neither observed as keenly nor enjoyed herself as thoroughly as when her child was old enough to be taken to the zoo It is a source of amazement to the writer to realize just how ingenious children may be with a little direction, how cleverly they may construct things and even more significant, the questions they can ask, the answers to which have been and still are being deliberated upon by scholars in many fields

Correlation of Child Behavior which Fosters Social Development vs Inhibits Social Development

The material given below tends to show that the children in this

Child Behavior Patterns	Correlations
Plays with group	64 ± 07
Co-operativeness	55 ± 08
Ascendancy	54 ± 08
Sadism	—53 ± 08
Responsibility	47 ± 09
Selfishness	—44 ± 09
Nervous habits	—39 ± 10
Security	37 ± 10

study whose parents foster social development tend to play more with the group, tend to be ascendant, and tend to co-operate and assume a certain type of responsibility There is a negative correlation between sadism, selfishness, and "fosters social development"

From the writer's observations, it would seem that one of the fundamental requirements in fostering social development is the social adaptability of the parents themselves, and secondly, the provision of opportunity for social development outside of the home itself It was interesting to the investigator to note that where children have been taught not to ridicule other children or discriminate between race or creed, one tends to find more understanding and sympathy revealed by the children Several cases in particular come to mind of children from such environments who not only avoided teasing and taunting other children but seemed to assume a certain responsibility for these children who were being teased or taunted It was not even unusual for a child to take another child under his wing, as it were, especially a child new to the group and initiate him into the routine. Perhaps one of the most gratifying experiences the writer had was listening to one child tell another, "We hang our wraps here and we always put our toys away when we are through playing with them!"

In addition to the parent setting an example of kindliness and co-operation, acting as a wholesome guide, neither losing his patience and flying into rages nor speaking disparagingly of neighbors or friends, we find from close scrutiny of the data several other factors important in socializing the child

Pets seem to be valuable in developing social values Perhaps a plausible explanation for this fact may be that the welfare and perhaps existence of something the child loves dearly can so easily be

made to depend upon his behavior towards it, the responsibility he assumes for it, and the tenderness he shows for it

When children in the same family or simply playmates participate together in an activity, hardly a moment passes without its opportunity and demands upon the child for social rather than egocentric behavior [1] The egocentric inclinations of the child tend, if the relationship is a mutual one, to become restrained

Correlation of Child Behavior with Calm, Happy Home Life vs Home Full of Tension

An analysis of the following data indicates that several types of

Child Behavior Patterns	Correlations
Security	64 ± 07
Nervous habits	—61 ± 07
Plays with group	54 ± 08
Sadism	—49 ± 09
Co-operativeness	44 ± 09
Selfishness	—37 ± 10
Self-reliance	23 ± 11
Responsibility	21 ± 11
Perseverance	09 ± 12

behavior are related to a calm, happy home life a desire to play with the group, co-operativeness, and a sense of security There is a decidedly negative relationship between nervous habits, sadistic behavior, and a home void of tension

These data give some interesting evidence to show that defects in the family constellation, due to lack of harmonious relations between parents in the form of relatives and so on, may have an undesirable effect upon the personality of the growing child It is not so difficult to detect obvious disorders but in the home there are situations which are less obvious and which tend to occur as frequently in families of high economic and cultural status as in the lower class These less obvious difficulties including problems of interparental incompatability seem to generate the feeling of insecurity in the child which in turn may effect his emotional stability It seems that one of the most discouraging aspects in the treatment of conduct disorders is based upon the fact that the personality deviation in the child is often based on a much more deeply entrenched personality deviation in the parent or parents

[1] From observations of the children involved in this study, it was definitely seen that socialized speech can be detected long before seven years This is contrary to Piaget's suggestion

According to the interview it may be seen that parents who themselves are still groping toward maturity exhibit such infantile characteristics as: losing their own temper in any trying situation, refusing the child's wishes without his knowing why, being lax with the child one day and strict with him the next, and in general tending to excite the children by the ambivalence of their own feelings and emotional maladjustments Children of this type of home may reveal such nervous patterns as nail biting, nose picking, enuresis, speech defects, and masturbation Several children were pointed out by the observers as seeming constantly anxious and fearful They were described by the raters as being erratic and jumpy, irritable and given to outbursts of temper tantrums and frequent crying It was evident from the data that these children may be divided into two groups those who try to make some substitute adjustment for the lack of recognition or security in the home and those who are completely baffled, with the result that they are constantly emotionally stirred up to the conflicts that they cannot resolve It was somewhat surprising to the investigator to find so many children who, loving their parents, cannot feel secure in the possession of their affections This may perhaps be due to the results of parental effusion of love at one time for the child and harshness at another, preferential attitudes toward children in the same family and so on Many adults cannot adjust themselves to such erratic behavior in those whom they love How much more difficult it must be for a child to understand why at one moment he is kissed and praised and the next moment ignored and repulsed A common type of defense mechanism for this form of insecurity as seen in the children studied may be negativistic behavior and a refusal to comply with social demands The reasons underlying this negativistic behavior are not difficult to understand for if a child doesn't feel that he is a welcome member of the family it may be difficult for him to become a welcome member of any group outside the radius of the family Or if he cannot feel secure in his own home, how much more difficult it is for him to cover up his insecurity by various behavior patterns which take years to acquire!

Experimental Studies of Individual Children

In the description of the general procedure it was indicated that the correlational analyses are looked upon as giving hints of possible relationships and that final tests of causal relationships are derived

from experimental studies, that is, studies in which a known change is made under known conditions Measurements are taken both before and following the change

An adaptation of the experimental procedure was attempted in this study These sample studies of individual children are offered as a possible part of a larger program Home environments vary with respect to many factors Ultimately there must be many cases of given types of children in given types of home environments A rating of the child and the home environment was first obtained Then a change was made in the home environment, some time allowed for the change to become effective, and a second rating of the child's behavior obtained

The procedure followed in describing these individual studies is as follows first, a brief characterization of the child involved, second, a brief description of the salient features in the home environment, third, the suggestions incorporated in the training period, and fourth, a brief summary of the child's readjustment In outlining the changes attempted in each particular case, only the essential features are emphasized rather than the detailed suggestions

Each report is accompanied by a tabulation showing the ratings of the child before the experimental training was instituted and the ratings following the change, so that the reader may gauge the results of the training The ratings preceding training and following training were made by the same observers Ten children were used in this part of the study Below are given descriptions of the procedures and results obtained in three typical cases The full report of all cases may be found in the thesis on file at the University of Iowa library Outstanding changes in personality ratings were secured on all subjects

Child C

C seldom approached the group or revealed much interest in other children He resisted attempts to be led into group activity but preferred rather to be alone, apart from the group His behavior, as rated by the observers, was characterized by nervous habits, such as thumb sucking and masturbation, and in general revealed a nervousness that seemed based on anxiety and tenseness He was loathe to leave his mother when she brought him into the preschool and clung to her skirts, crying after she left During the music period, the teacher had constantly to urge the child to participate in the singing, dancing, and games, this he finally did with a great deal of resistant behavior, his face registering little emotion other than sullenness

Interview with the father revealed that Mr M was an Army officer and a strict disciplinarian He entered a military academy at twelve and lived under

strict military regime Mrs M had been raised by a step-mother whom she hated, but she wouldn't leave home because of her devotion to her father Mrs M had had a desultory education including two years in a music conservatory She finally married Mr M who was much older than she, a widower with grown-up children and several grandchildren Mrs M told the interviewer that her husband was so kind, that they both "enjoyed Wagnerian music", that she married Mr M to escape from a home which was becoming unbearable with her step-mother's constant nagging and accusations of immorality When Mr M was fifty-five, C was born and Mrs M decided to give him all the love and attention which she herself had been denied However, since she was in her late thirties when C was born, she said she felt awkward when playing with the child and soon gave up, leaving him to his own devices

For Mr M, C's birth was an anti-climax He had no wish for any more children and a child in the house only disturbed his orderly regime However, he assumed great responsibility in trying to make a real soldier out of his son and, according to Mrs M, whipped him almost every night on the slightest provocation Mrs M told the interviewer that C's verbal response after being whipped usually was, "I don't like you I like my mother", but she hastily added, "he probably forgets all about it in the morning"

Mrs M seemed to be aware at the time of the interview that C wasn't developing quite as he should, but added that alone she was quite helpless She indicated that she would appreciate any efforts on the part of the investigator to help her

An interview with Mr M was arranged and a promise exacted from him not to whip C for at least two months Mr M was judged by the interviewer to be a man of narrow outlook, probably induced by limited circumstances The investigator informed Mr M that while his basic idea in trying to make a "man" out of C was good, he might better accomplish this by punishing him, if he really deserved it, in some other way than corporal punishment, perhaps by isolation or deprivation It was suggested that he also issue fewer demands and provide C with constructive material which would interest and stimulate him so that he wouldn't have to irritate his parents by objectionable conduct as a means of releasing energy What C needed, it was suggested, was uniform gentleness and affection so that like qualities might be evoked in him The parents agreed to be consistent in their attitude toward C and to enter his life in a positive rather than negative relationship The interviewer also suggested that more social situations be provided for C Mr M was at loss to understand why his son didn't like music when he had such ample opportunity to listen to it at home To this the investigator replied that it is not enough to have opportunity It is essential to "feel it," and in this the child must be guided Several books dealing with principles of child development were suggested to Mrs M

After seven weeks Mrs M reported that C was at first suspicious of his father's advances and repulsed them, but rapport was established between father and son through a construction set which Mr M had provided for the child The father had also taken C to the zoo several times and both father and C had seemed to enjoy the excursion Mrs M related the following incident to the investigator One night before C's bedtime he was sitting near his father

who was reading the evening paper In getting up, C knocked over his father's ash tray The father looked up, showing none of his usual irritation Before C went to bed, he said to his mother, "Daddy forgot to whip me and I spilled the ash tray!"

After seven weeks of following the suggested changes, the raters observed that many of C's nervous habits were beginning to disappear and that he was losing much of his negativistic behavior and was more co-operative as well as self-reliant During the story hour he began to speak of things that his father and he had done One day after he had been to the zoo he asked the teacher if he couldn't tell the children about the monkey show he had seen The children themselves began to take more of an interest in C

The detailed data for these findings follow

Behavior Patterns	First Rating	Second Rating*
Plays with group	7	4
Self-reliance	5	3
Ascendance	5	3
Selfishness	4	Same
Sadism	3	4
Nervous habits	3	6
Security	6	4
Resourcefulness	6	4
Co-operativeness	7	4
Perseverance	6	5
Responsibility	4	Same

*Seven weeks after first rating

Ratings of Home Environment

Category	Rating	Remarks
Protection *vs* rejection	2	Changes
Logical *vs* illogical approach	7	involved
Encourages *vs* discourages development and expression of ideas	6	training in logical
Fosters *vs* inhibits social development	6	scientific
Calm, happy home life *vs* unhappy home life	4	approach

Child L

L was the object of much teasing and taunting Whenever he carried his tray he spilled something He couldn't even carry his food to his mouth easily The observers noted that he couldn't make a whistle during constructive activity period nor was he able to beat time or march to music Whenever he began to say something, he stuttered and the other children laughed at him L's reaction to this was crying and he developed a chronic runny nose which he didn't bother to wipe but annoyed the children and adults with it He was rated by the observers as being insecure, unself-reliant, and lacking resourcefulness or perseverance

During the interview it was learned that both L's father and mother were deeply disappointed in him and were constantly referring to his clumsiness His inadequacy was a constant source of humiliation to them L's brothers and sisters mocked his stuttering and otherwise paid little or no attention to him

When L was first entered in the preschool, a testing program was in session L's father called upon the Director to find out his child's IQ and was keenly disappointed when the Director told him it was against the policy of the school to divulge the IQ's of the children His first question to the Director had been, "Is my child a genius?" During the interview L's mother told the investigator that L's father had received a blow when informed of L's problems in the preschool He simply could not understand why L should have any difficulty when his other children, of whom he was very proud had always been so bright

The parents were both informed by the investigator that although L was not a genius, he was not innately mentally deficient and that he could be more efficient if he was not constantly nagged and humiliated by having his inadequacies commented upon They were also told that by being held up to standards he couldn't live up to any ability he did possess was being destroyed It was suggested that what L needed was praise for what he had done and encouragement in doing it still better, that L's difficulty seemed to be the result of general emotional tension They were to ignore his stuttering, which in all probability would disappear as the tension disappeared, since he had not stuttered when he first began to talk They were to speak very distinctly and slowly to the child and give him every aid in training him to be self-reliant They were also to give him simple responsibilities in the home L's father asked the interviewer, "Why does he let his nose run constantly when he knows it irritates me so?" The reason was advanced that perhaps L might be using this as a device for getting even with his family, actually to annoy them and at the same time direct attention to himself Appropriate reading material was suggested to the parents

One day when the children were having a birthday party at which ice-cream and cake were being served, the teacher asked L if he wouldn't help her serve it He replied confidently, "I won't drop it," and he didn't

The second rating, which was done eight weeks after training had begun, revealed the following changes L was much more secure His stuttering had lessened and was evident only when he became excited He was very careful to keep his nose clean He was more alert and exerted more effort and perseverance in both his play and work periods He was also less submissive and was entering into the group not as one to be laughed at, but on an equal basis with the other children

The following tabulations give the data for this child

Behavior Patterns	First Rating	Second Rating*
Plays with group	5	3
Self-reliance	6	4
Ascendance	6	4
Selfishness	5	Same
Sadism	5	4
Nervous habits	1	4
Security	7	5
Resourcefulness	7	5
Co-operativeness	3	Same
Perseverance	5	3
Responsibility	6	3

*Eight weeks after first rating

Ratings of Home Environment

Category	Rating	Remarks
Protection *vs.* rejection	4	Change
Logical *vs.* illogical approach	7	involves
Encourages *vs.* discourages development and		training
expression of ideas	7	in logical
Fosters *vs.* inhibits social development	4	scientific
Calm, happy home life *vs.* unhappy home life	4	approach

Child J

Until J was three and one-half years old she seemed to be developing normally, showing little negativistic behavior or emotional aberrations. Then, as her mother explained in the interview, "she suddenly changed into a little demon, flew into temper tantrums, refused to eat or go to bed at regular intervals, and developed enuresis!"

Upon investigation it was discovered that J's misbehavior did perhaps seem to occur suddenly but not without a definite cause. The changes occurred in J at the time her mother gave birth to a baby boy.

The mother was very eager to remedy the situation, and it was pointed out to her that what J was passing through was jealousy and insecurity through loss of her former position as sole possessor of the affections of the immediate family which included a grandmother and grandfather a well as an adoring aunt. During the interview Mrs. S. revealed that not once had she tried to prepare J for the baby's coming, saying she though J was too young to understand, and, furthermore, she naturally thought she would "love" the new baby as a matter of course.

A program for readjusting the situation was determined to accomplish two things: first, to reinstate J's security in the family, and secondly, to inculcate a feeling of affection and responsibility in her for her baby brother. Before the baby's arrival, J and her mother had been together a great deal of the time. Mrs. S. had frequently taken J with her on various errands, and so forth. When the baby came, this intimacy was naturally discontinued since, as Mrs. S. said, it took all her time and energy for the baby.

The following suggestions were made by investigator. Each day Mrs. S. was to devote about thirty minutes exclusively to J. She was to take her walking or simply be with her, reading to her or playing with her. Several times they played house, a game of which J was very fond. Mrs. S. made the suggestion several times to J that perhaps they ought to have a little brother in order to have a real family, pointing out to her the families in which there were several children. Mrs. S. said to J, "It's so nice to have a little brother, when he grows up he'll be able to play with us. So let's take good care of our baby so he'll be able to grow up very soon and then we can all have fun together!" Mrs. S. utilized this type of suggestion very frequently and at the same time tried to make J responsible for the baby by letting her help while he was being bathed, allowing her to fetch his clothes, and to do other little things for him.

Six weeks later Mrs. S. reported that J had ceased much of her negativistic behavior, and that she was referring to the baby as "our baby." Her nervous

habits were not observed as frequently, and she very seldom wet her bed. The last time this had happened, J had been out playing all day and was so tired that her mother put her to bed immediately without placing her on the toilet.

Mrs. S reported that J is now proud of her brother and likes to help him. She is very much amused as he shows signs of recognizing her when she comes into his room.

The following tabulations give the detailed data for this child.

Behavior Patterns	First Rating	Second Rating*
Plays with group	3	Same
Self-reliance	4	Same
Ascendance	3	Same
Selfishness	6	4
Sadism	6	Same
Nervous habits	3	6
Security	6	2
Resourcefulness	3	Same
Co-operativeness	6	4
Perseverance	6	Same
Responsibility	4	Same

*Six weeks after first rating

Ratings of Home Environment

Category	Rating	Remarks
Protection *vs* rejection	4	In this ex-
Logical *vs* illogical approach	6	perimental
Encourages *vs* discourages development and expression of ideas	3	study attention was directed to
Fosters *vs* inhibits social development	3	parents' illogical
Calm, happy home life *vs* unhappy home life	2	unscientific approach

SUMMARY

The purpose of this study is twofold: first, to determine the relationship between five characteristics of parental behavior and eleven selected patterns of child behavior, and secondly, to determine the effect of certain changes which were actually made in the home environment upon selected patterns of child behavior.

The group studied in this investigation consisted of thirty-three children ranging in age from two years, one month, to five years, six months, and the families of these children. The group was above average in socio-economic status.

Description of the home environments was secured by means of a modified interview procedure. On the basis of the data obtained in the interview, each home was given five ratings on a 7 point scale based on the judgment of the interviewer. Data on the behavior of the child were obtained by the ratings of three observers who were in daily contact with the children. The final rating was based on the average of the three individual ratings. These ratings were correlated with the ratings on the home environment. According to the relationships

indicated by the correlations, experimental situations were instituted in order to determine the possibility of modifying the behavior of the child These training situations consisted of a simple training program designed to include the most generally accepted principles of child development Following the training period, the children were rerated by the same observers and comparisons of these two ratings were made

The following results were obtained

1 Analysis of correlations between parental protection *vs* rejection and child behavior patterns suggests that overprotected children tend to withdraw from the group, may be submissive, and lack self-reliance, whereas rejected children tend to be ascendant and sadistic Nervous habits and a feeling of insecurity tend to characterize both the extremely overprotected and extremely rejected children though the overt manifestations of the behavior may be different The pertinent correlations ranged from 43 ± 09 to 73 (η) The data indicate that the submissiveness of the overprotected child may take either the form of extreme docility or extreme negativism The ascendancy of rejected children tends to take the form of aggressive and sadistic behavior The nervous habits of overprotected children appear more infantile than those of rejected children Plausible explanations as discerned from analysis of the data are advanced for these various relationships

2 Home environments characterized by a "logical scientific approach" tend to produce such types of child behavior as the following self-reliance, responsibility, resourcefulness, and perseverance The relevant correlations ranged from 45 ± 09 to 57 ± 08 There tends to be a negative relationship between nervous habits and a 'logical scientific approach"

3 Home environments encouraging "development and expression of ideas" tend to correlate significantly with such patterns of child behavior as resourcefulness, co-operativeness, self-reliance, and perseverance The pertinent correlations ranged from 40 ± 10 to 60 ± 08 Sharing experiences with children and providing them with adequate materials and situations seem to be important parental factors in encouraging "development and expression of ideas"

4 Home environments that foster social development seem to correlate significantly with the following patterns of child behavior ability to play with group, co-operativeness, responsibility, and ascendancy "Fosters social development" correlates negatively with selfishness, and sadistic behavior These pertinent correlations ranged from 40 ± 10 to 64 ± 07 The data tend to indicate that fundamental elements involved in fostering child's social development may be the social adaptability and adjustability of the parents themselves These data also seem to indicate that parental provision for ample opportunity so that the child may make social contacts outside of the home itself tends to be an important factor in "fostering social development"

5 A calm, happy home life appears to be related positively with a child's security, his co-operativeness, and ability to play with the group, and tends to be related negatively with nervous habits and sadistic behavior These relevant correlations ranged from 44 ± 09 to 61 ± 07

REFERENCES

1 Ackerley, Lois A A comparison of attitude scales and the interview method [In] Ackerley, Lois A, Ojemann, Ralph H, Neil, Bernice, and Grant, Eva A Study of the Transferable Elements in the Interviews with Parents J Exper Educ, 1936-1937, 5, 137-174 (p 137-146)

2 Fitz-Simons, Marian J Some parent-child relationships as shown in clinical case studies Teach Coll, Columbia Univ, Cont to Educ, 1935, No 643, Pp xi, 162

3 Francis, Kenneth V, and Fillmore, Eva A The influence of environment upon the personality of children Univ Iowa Stud, Stud in Child Welfare, 1934, 9, No 2, Pp 71

4 Hattwick, Berta Weiss Interrelations between the preschool child's behavior and certain factors in the home Child Develop 1936, 7, 200-226

5 Hattwick, Berta Weiss, and Stowell, Margaret The relation of parental over-attentiveness to children's work habits and social adjustment in kindergarten and the first six grades of school J Educ Res, 1936, 30, 169-176

6 Holzinger, Karl J Statistical methods for students in education New York Ginn, [c 1928] Pp viii 372

7 Jack, Lois M An experimental study of ascendant behavior in preschool children [In] Jack, Lois M, Manwell, Elizabeth Moore, Mengert, Ida Gaarder and others Behavior of the Preschool Child Univ Iowa Stud, Stud in Child Welfare, 1934 9 No 3, Pp 171 (p 7-65)

8 Kirkendall, Lester A Factors related to changes in school adjustment of high school pupils with special reference to selected factors in the home environment Teach Coll, Columbia Univ, Cont to Educ, 1937, No 705, Pp viii 90

9 Ojemann Ralph H, and Neil, Bernice Parents' practices and appraisal of child's growth [In] Ackerley, Lois A, Ojemann, Ralph H, Neil, Bernice and Grant, Eva A A Study of the Transferable Elements in the Interviews with Parents J Exper Educ, 1936-1937, 5, 137-174 (p 146-159)

10 Roberts, Mary Price A study of children's play in the home environment [In] Ojemann, Ralph H, Roberts, Mary Price, Phillips, David P, and others Researches in Parent Education II Univ Iowa Stud, Stud in Child Welfare, 1934, 8, Pp 335 (p 33-98)

11 Ward Anne The only child A study of 100 only children living at home with both parents, referred to a child guidance clinic Smith Coll, Stud in Social Work, 1930-1931, 1 41-65

12 Wexberg Erwin Individual psychology Trans by Beran Wolfe New York Cosmopolitan Book Co, 1929 Pp viii, 428

PART FOUR

THE SIGNIFICANCE OF A DYNAMIC CONCEPTION OF KNOWLEDGE

by

Ralph H. Ojemann, Ph.D.

THE SIGNIFICANCE OF A DYNAMIC CONCEPTION OF KNOWLEDGE

Fundamentally all pragmatic or scientific knowledge has a changing probability characteristic. This conception has tremendous significance whenever a bit of knowledge is used in formulating a plan of action. There are a number of difficulties that may be traced rather directly to the failure to recognize this characteristic. These problems beset not only parent education, and the application of child development to child guidance, but they are common to all situations in which knowledge is used. Cases in point are disappointments that arise when so-called principles or suggestions are applied, and the results are not what would be expected of the verbal formulation of the principle. "That is all right in theory but it won't work in practice" epitomizes the outcome of such disappointments. In some quarters the reaction has gone so far as to relegate knowledge to a relatively minor position in the control of behavior.

It is the purpose of this paper to analyze and bring to a focus the fundamental conception that knowledge has an approximate character, that the degree of approximation may vary from one portion of a field to another, and that the degree may undergo changes at varying rates. An attempt will be made to demonstrate that difficulties arising from the application of knowledge are not the result of the ineffectiveness of knowledge itself, but are rather the result of a too static or inflexible interpretation of its nature.

As a background for this discussion it may be noted that one of the marks of our culture is the attempt to live by relatively inflexible "rules-of-thumb." There are traditions, codes, mores, and laws. Both youth and adults tend to adopt a host of comparatively inelastic maxims about life without ascertaining the degree of validity they represent. Although the maxims of youth may be different, perhaps diametrically opposed to those of adults, they tend to be of the same fundamental character. Adults may assume that smoking a package of cigarettes a day has a definite physical effect upon a youth, or that social behavior pattern A is unquestionably helpful. Youth may assume that smoking a package of cigarettes a day has no physical effect of any consequence, or that social behavior pattern A as unquestionably useless. Neither

generation seems to be aware that knowledge at any given moment has limits, that few things are so well known that they can be stated as representing 99 per cent success when applied, and that often the extent of our knowledge is so restricted that we can effect only 75, 50, or 25 per cent success.

The old order changes to be sure. It changes to a new order that may be different from the old in many respects. However, the new tends to be like the old in one significant aspect. It is as inflexible and fixed as the one it displaced.

Since relatively little emphasis is placed on the limits of knowledge in present-day teaching, and since relatively little attention is given to the varying degrees of approximation that knowledge presents at a given moment, one would expect that the nature, function, and significance of research as an enterprise of the race is but little understood and appreciated by the general population. Data which will be presented later in this paper confirm these expectations.

It will facilitate the discussion to use the term "probability" and we shall call our problem "the changing probability" or "dynamic" concept of knowledge. In this paper an outline of the concept and a demonstration of its contribution will be presented analytically and experimentally.

THE DYNAMIC NATURE OF KNOWLEDGE

Pragmatic or scientific knowledge of our environment and of ourselves has its source in observations or measures. In the process of developing a so-called "fact," individual observations or measurements furnish the starting point. For example, in obtaining a simple bit of knowledge such as the length of a table, we apply a yardstick and express our results in terms of units that are common currency in our group. If the work is carefully done we find that when the measuring stick is applied several times under conditions as nearly identical as possible, the successive measures vary by a few fractions of an inch. The several measures are averaged and the latter is taken as the length of the table. If the fact of variability is recognized, the variability of the average may be expressed by its probable error. If increased accuracy is desired, more observers, more refined measuring instruments, and more refined conditions may be used. But the variability, although small, is present even in the most refined measures that anyone has yet been able to devise. Our knowledge of the length of the table takes the form of an average and its variability. What is

true for our knowledge of the length of the table is true for all knowledge

If the effect of a given type of reward upon children is unknown, children of known characteristics are placed in known situations (some are rewarded, others are not) and the results observed and recorded in terms of averages and their variabilities

In some areas of a given field the variability of measures is relatively large In others it may be relatively small The variations arise from at least two sources (1) the error in the measuring process, and (2) the fluctuation of the factors influencing the relationship under observation Here the variation from the two sources will be grouped together and for convenience referred to as the probable error of observation If the error in the measuring instrument is relatively small and the fluctuation in the factors influencing the relationship are small also the variability of the average will be small Such is the case when the length of an iron bar is measured with micrometer calipers under standard conditions of temperature, composition, and the like If the error in the measuring process or the fluctuation in the potent factors is increased the probable error of observation becomes larger Condition A represents the situation when the errors of measurement are relatively small and the fluctuations in the significant factors affecting the relationship under observation are held within small limits Condition B represents the situation when the errors of measurement are increased and the potent factors remain relatively constant Condition C represents the situation when both the errors of measurement and the fluctuations in the potent factors are increased

In almost any field, and in the social sciences particularly, the errors inherent in the measuring instrument and the care with which experiments are conducted may differ rather widely from one portion of the same field to another In the general area of human behavior, for example, measurements of reaction time have been made with relatively small variability, whereas such measurements as those of reading ability apparently have a somewhat greater variability, and measures of personality, still greater variability At a given moment therefore, a field may consist of generalizations based upon measures having a relatively small probable error of observation, a moderately large probable error, a still larger probable error, and hypotheses whose probable errors are not known

Furthermore the concept "probability character" must be expanded into a "changing probability character" because of the continual chan-

ges which take place in the knowledge in any field Hypotheses may be subjected to test and thus be changed into generalizations of a known probable error More accurate measuring processes or more accurate control of conditions may be developed with the result that generalizations having a relatively large probable error are replaced by generalizations having a smaller probable error, etc It is also important to note that these changes may affect any or all portions of the field They may be of all magnitudes They may take place at all speeds

The changes are in effect a reduction of the size of the probable error of observation Previously observed results are not overthrown, however, more refined methods of measuring the length of a table may be developed with the result that a measure with less variability is obtained But the earlier measures still hold in the sense that they would be obtained whenever length is measured under the first specified conditions and with those specified methods There is thus a certain stability to tested knowledge

The changing probability conception of knowledge becomes important when knowledge is applied For example, if we are aware of the probable error of the generalization that diphtheria antitoxin will immunize children against diphtheria, we are not surprised to find that about 3 per cent of the population cannot acquire immunity In the present state of our knowledge we can say that the chances are about 97 in 100 that particular antitoxin will work In making the plans for our family we will have to take into account the possibility that our children may be among the 2 or 3 per cent A nation hears its president declare himself in favor of a "sound but adequate currency" This declaration implies that the president or someone else will be able to control the forces making for a "sound but adequate currency" However, if the nation is aware of the probable error of the observation underlying this prediction, it will not be surprised to find that the situation may get out of even the president's control

If it is assumed that a host of maxims about life are exact, and their probability character is not recognized, disillusionment may follow when plans do not work Planning for the future involves an application of generalizations, all of which have a great or small probable error The resulting plan may have a greater or smaller probable error

Furthermore, the use of a generalization in so far as its probability character is concerned is not affected by factors which do not change

the magnitude of the probable error. For example, it makes no difference whether the observations were made 25, 50, or 100 years ago. If no refinements in the data basic to a given generalization have been made within the last twenty-five years then the generalization in its probable error form of twenty-five years ago still represents the limits of knowledge. Time alone does not affect the size of the probable error.

There are a number of problems for which the changing probability conception of knowledge is of fundamental importance. It may help to clarify the concept and show its contribution by discussing a few typical applications.

The Use of Rules and Principles

In parent education the story is told of a lecturer who as a young student of child behavior gave a series of talks to parents entitled "A decalogue for parents." After the first child arrived in the family the title was changed to "Ten hints for parents." After the second child arrived the title was changed to "Some suggestions for parents." The story goes on to say that after the third child was born the talks were no longer given.

The example may be extreme in character but it illustrates a problem that often arises in child development. The pendulum swings from exact and specific suggestions to an abandonment of all attempts to teach knowledge. "We know nothing," report the disillusioned students of human behavior after finding that their first prescriptions do not work.

From what we have said of the dynamic or probability nature of knowledge it follows that there are no rules that are exact. The character of knowledge makes it impossible to formulate a generalization without a probable error. The probability character of any principle, suggestion, or other summary of a group of observations must always be taken into account. When any principle is applied control will be achieved in only a certain proportion of cases, depending upon the state of knowledge at the moment. Since one generalization may have a smaller or larger probable error than another, the probability that it will work will be correspondingly greater or less.

A recognition of the probability character of knowledge can reorient and vitalize teaching. Teaching a generalization within its probable error tends at once to make teacher and learner aware of

the limits of knowledge, and leads directly to an inquiry into the methods by which knowledge is developed.

Man, to make effective use of scientific knowledge, must rise to the point where behavior takes on a flexible character proportionate to the changing probability nature of his knowledge. He cannot live by "rules" or "inflexible laws."

Redefinition of "Old-Fashioned" and "Out-of-Date"—the "Wisdom of the Past"

From the above discussion there is some danger that knowledge may be put in an unfavorable light. "Will we ever know?" queries the observer. "There are revolutions and upsets in all scientific fields and all we have are theories, and these will change from generation to generation." The pendulum has now swung to the opposite extreme and past observations are thrown overboard. It is not difficult to demonstrate that this reaction is illogical. New observations may refine but they do not completely overthrow previously observed results. More refined methods of measuring the length of the table or analyzing the components of an atom may be developed and a measure of less variability obtained, but the earlier measures still hold in the sense that they would be obtained whenever measurements are made under the earlier conditions and with the same methods. Thus there is a certain stability to tested knowledge. Take for example the development of the electronic conception of matter. That it did not overthrow Mendeljeff's table of chemical elements is shown by the fact that present day chemical laboratories make use of both the older atomic and the newer electronic tables. If approximate atomic weights are desired, the less refined data are used. If greater refinements are required, the newer electronic table is used.

If only partially refined data are available, it is illgoical to disregard such data in application. Some control over a situation is achieved if one is able to say that a given relationship will hold in 75, 50, or even 25 per cent of the cases. A prediction which is right seventy-five times out of a hundred is an improvement over a sheer guess. It is clearly more helpful to begin with a probable error of known magnitude than to start "from scratch." Thus, the wisdom of the past in the area of pragmatic knowledge consists in reductions of the probable errors of observation.

The Conflict Between Older and Younger Generations

In the introduction to this paper it was pointed out that there is a tendency for the older generation in our culture to adopt numerous inflexible maxims without considering their degree of validity. Because youth tends to do the same, the result is frequent conflict. Both generations at a given moment are faced with knowledge of the same limits and extent, and both can solve problems involving observable relationships only by careful inquiry. Why should there be conflict? Perhaps both do not see knowledge in its varying degrees of approximation and therefore do not recognize their common problem. The conflict between youth and age is an illustration of the fact that western civilization has not evolved a method of dealing with the shifting probability character of knowledge in its work-a-day world.

The Use of Theories or Hypotheses

There are many areas in which, for all practical purposes, only hypotheses, or perhaps generalizations having exceedingly large probable errors, exist. If action must be taken in such areas, two courses are possible. On the one hand the individual may favor a given hypothesis and proceed to apply it without thought of turning back. On the other, recognizing the magnitude of the error in the hypotheses or the generalizations, the individual may select the best hypothesis and proceed to action. He is aware, however, that the course of action may be in error and is ready to modify his plans as soon as results indicate that modification is necessary. It is at this point that the recognition of the probability character of knowledge makes plan two significantly different from plan one. In plan two the individual does not assume that his plan of action is sure to produce the desired results. He is prepared to change his course of action when the consequences indicate that a change is desirable. In addition he would try to control the situation in such a way that the whole process becomes an experimental inquiry, thus supplying more observations which in turn may help to refine a basic generalization.

Practically every age in human history has witnessed attempts to shape a course of action on the basis of uncertain knowledge. The real loss to the race is that these attempts were not viewed as experimental inquiries and the results recorded to extend man's knowledge.

Attitude Toward Social Problems

When social problems are considered in our present culture, they

tend to be dealt with in rather rigid terms A definite and complete course of action is assumed as the only possibility When the N R A was formulated some years ago, emphasis was placed upon the enforcement of codes These codes, in the last analysis, were assumptions about the solution of the unemployment and other depression problems as they relate to industry. No provision was made for a thorough-going study of the results of the code enforcement, so they might be tested and revised in the light of new data

It is not difficult to understand the urge for definite and even dramatic action when a social problem becomes acute But to take a definite and rigid stand on any and all social problems is illogical This becomes clear when the development of a plan of action is followed through its various stages

When a course of action is determined thoughtfully, the procedure is to assemble the pertinent knowledge, formulate a judgment on the basis of known data, and then carry the judgment into action If the basic data are fairly complete it is possible to predict with a relatively small error the probability of the success of a plan Correspondingly, if the basic data are very incomplete it is impossible to predict the success of the plan

When social problems become acute and catastrophe is imminent the emphasis is placed upon immediate action If a caatstrophe is in reality pending one can adopt an hypothesis and proceed, but the emphasis is upon studying the results as they appear and not upon blind adherence to the hypothesis regardless of results

The dynamic conception of knowledge thus affects very vitally and directly our attitude toward social problems It emphasizes that the degree of success of a solution based upon the best knowledge available at the moment will vary It also stresses the importance of adopting an experimental attitude when man has to go beyond the limits of knowledge

The Fundamental Significance of Adult Education

A dynamic concept of knowledge gives a fundamental significance to adult education At present the purpose of adult education is to provide the knowledge, skill, attitudes, etc that are needed in solving an immediate problem Not much consideration is given to the question of whether this education is truly progressive or merely remedial in nature It is quite clear, however, that if adult education is supplying something which should have been supplied earlier in life, it is per-

forming a remedial or reparative function a function which is temporary and without fundamental significance For example, it is doubtful whether adult education can justify its existence by seeking to develop a scientific attitude The scientific attitude should have been developed and used long before the adult level

However, if the emphasis is placed upon the continual growth and refinement of knowledge, adult education has a fundamental and progressive contribution to make If knowledge grows, then each professional individual and tradesman must continue his learning throughout life to remain competent As long as society has sufficient vitality to engage in research, adult education is significant and fundamental Remedial purposes are transitory when viewed in the long run. Keeping pace with the advance of knowledge is not remedial, it is constructive

Redefinition of "Accuracy"

There is a tendency in our culture for such terms as "correctness" and "accuracy" to carry a static connotation If John is asked by his physics teacher to measure the length of an iron bar, his result is very likely to be marked right or wrong There is a certain rigidity The right answer, however, is not a point but a range, and the important thing is the variability of the average

Furthermore, whether a given answer is right or wrong may depend upon the use which is to be made of it Under ordinary conditions all that is needed is an average that has a variability of approximately a quarter or an eighth of an inch But if the bar is to serve as a part of a very delicate machine, it will be necessary to determine the length to within a few thousandths of an inch But neither measure can be said to be right or wrong in the sense that it is always to be preferred or more useful than the other Accuracy and correctness are matters of degree of refinement, depending upon the use to which the measure is to be put, and thus they acquire a dynamic rather than a static connotation

Experimental Study of Dynamic Concept

It would appear from the above discussion that a dynamic conception of knowledge would be exceedingly useful in making an adaptation to the natural and social environment This analysis merely sets the hypothesis, however The question arises, does experimental evidence affirm or deny this hypothesis?

Studies designed to determine the relation of a concept to behavior presuppose a method of determining the degree to which the concept is operative In a particular method of testing, problems were devised which could not be solved unless the subject had a functional understanding of the probability characteristics of knowledge The test instrument consisted of a series of problems representing a variety of approaches to the concept of both essay and multiple choice type The items of the essay type were divided into several parts, each part of which required only one or two written sentences from the subject For each item a detailed scoring key (described later) was developed A copy of the test is on file at The Iowa Child Welfare Research Station The purpose and items comprising the measuring instrument are as follows

1 To determine whether the individual is aware of the dynamic conception of knowledge, using it to guide his actions, remaining aware of the possibility of its extension and refinement, and realizing the importance of using only such knowledge as has been brought up-to-date Two short essay exercises were included in the test to measure the awareness of this changing character of knowledge In one item the subject was given a young mother's use of nutrition principles learned ten years earlier in high school The other exercise is similar but the application involves generalizations relating to agriculture

2 To determine whether the subject is aware of the probability character of measurements, the following exercise was used In a certain factory the workers used a steel rule by which length could be measured to the nearest one- or two-tenths of an inch Later an attachment for the rule was invented which made it possible to measure length to about one-hundredth of an inch accuracy A workman who did not know of the latter device used the rule alone to measure the length of a rod He worked very carefully

a Is he getting the exact length of the rod? Explain briefly

b Would he get the exact length of the rod if he used the attachment? Explain your answer briefly

3 To determine whether the subject would emphasize the magnitude of the probable error in preference to other important considerations such as the age of the discovery Exercise No 8 which was included for this purpose, describes a certain doctor who, in treating a rare disease in one of his patients, used a method developed thirty years ago The question is asked, under what conditions would you consider this doctor old-fashioned? Give a brief explanation

4 To determine the subject's ability to interpret the magnitude of the probable error in terms of the demands of a situation (including such factors as the errors in the subsequent operations) Exercise No 3 and exercise No 2c are combined to test this In each case the subject is asked to interpret refinements in terms of the requirements of the situation

5 To determine whether the subject can distinguish the prediction usefulness between generalizations having a small probable error and others having a large probable error Item No 9 was constructed for this measurement

6 To determine whether the individual is able to cite at least one experiment or a group of experiments in some field closely related to his interest and state in simple terms the experiments' effect on the knowledge in that field Item No 6 asks him to give such an example

7 To determine whether the subject can take some field closely related to his interest and indicate two facts in that field which have been fairly well demonstrated and two questions which have not been investigated to any great extent In item No 7 a wide variety of fields are suggested The subject is asked to select two and indicate for each two well-established facts and two relatively unstudied questions

8 To determine whether the individual can indicate the general function of research In item No 5 he is given a list of statements and asked to check those which represent his idea of the function of research

All items were scored in terms of zero, one-quarter, one-half, three-quarters, and full credit In each case full credit was given to an answer indicating a dynamic concept For example, in the items relating to keeping pace with the growth of knowledge answers which expressed the idea that knowledge should be brought up-to-date from time to time as a result of new facts or new discoveries, received full credit Illustrations of such statements follow

a Scientific research may have changed the facts in that text
b Newer and better methods are being discovered almost every year
c Scientists may have found the old way wrong or have found a better way
d She should use a later edition as new studies are being made
e Ideas may possibly have changed and she should keep up on the new discoveries

Answers which give no awareness of the possibility of changes in knowledge are given no credit Examples are

a It was a good book and she worked carefully Therefore, her method was O K
b That was a good method
c She should use her own ideas They would be better than any book

If the subject admitted the possibility of change but denied it dogmatically he received one-fourth credit Examples of items receiving one-fourth credit are

a Methods of feeding would not change in that time
b Ideas may change but not much in the six years

If the subject indicated the possibility of change without including a dogmatic statement as to the extent of change he was given three-fourths credit·

a She should get a later edition because things may have changed in that time
b. It was a good way except that there may be changes

c Methods have changed and are probably better now
d It would be O K in some respects but things change as time goes on

CONCEPT OF KNOWLEDGE — HIGH SCHOOL SENIORS

In order to study a group of subjects known to differ in their understanding of the dynamic concept of knowledge the test was given to two groups of high school seniors consisting of 213 subjects The subjects were seniors in the high schools of two Iowa towns and included a few students drawn from rural areas In administering the test the directions at the beginning were read orally. The subjects were allowed ample time to complete the test In most cases thirty minutes was sufficient

Before presenting the results of the test a few characteristics of the test itself will be discussed Any essay type test raises the question, what is the reliability of the scoring procedure? Two observers using the scoring key yielded a reliability coefficient of 89 ± 01 on this test which is reasonably satisfactory for items of this type Since only one form of the test exists at present and the number of items on the test is small it is not possible to make extensive analysis of the reliability of the test as distinguished from the reliability of the scoring procedure. However, in the study carried out by Musgrove (p 115) the test was given to the control group at the beginning and at the end of an experimental period The time elapsing between the two administrations of the test was two weeks The correlation of the scores on the two administrations of the test was 87 ± 04

To what extent is the dynamic concept operative in this group of 213 high school seniors? From the data in the following tabulation it can be seen that about one-half of the group recognizes the changing characteristics of knowledge to the extent that they are not willing to use knowledge six to ten years old unless recent developments are incorporated Similarly about one-half recognizes that time alone does

	Item	Per Cent
1	Growth of change of knowledge	47 4
2	Probable error character of measurements	25 6
3	Effect of time on magnitude of probable error	49 1
4	Relation of size of probable error to demands of situation	14 2
5	Effect of size of probable error on accuracy in prediction	12 0
6	Example of scientific investigation	9 1
7	Description of limits of knowledge	3 4
8	Function of research	17 3

not change the magnitude of the probable error The proportion receiving three-quarters or full credit on the remaining items is lower. About one in four recognizes the probable error character of measurements. One in seven is aware of the fact that a measure may exist in both a refined and crude form depending upon the demands of the situation Approximately the same proportion can point out how the size of the error in basic knowledge is related to the accuracy of predictions

The proportion able to cite a scientific investigation and to discuss briefly its effect on knowledge in the respective field is rather low Also, few were able to indicate the boundaries or limits of knowledge For these subjects a field does not seem to be divided into hypotheses and tested data Discriminations between hypotheses and tested data are not made As one student expressed it "Everybody knows that brushing the teeth prevents tooth decay."

It is interesting to note that slightly more than one in six can indicate the general function of research It was pointed out at the beginning of this paper that since current teaching places relatively little emphasis upon the changing probability characteristic of knowledge the significance of research would be but little understood and appreciated The data in the above tabulation tend to support this assumption

It is not necessary to dwell at great length upon the significance of these findings If a dynamic conception of knowledge is essential to the interpretation of the many important problems discussed earlier it is clear that high school students are allowed to reach the senior year without acquiring an understanding of a very fundamental concept

DYNAMIC CONCEPT AND ATTITUDE

Eighty-three subjects were used to study the relationship of the concept of the nature of knowledge to prejudices in everyday problems The average IQ of this group was 102 with a range from 72 to 140 Forty-seven statements relating to problems of everyday life including questions of manners, health, civic affairs, etc were submitted to the upper and lower quartiles of the groups as determined by the nature of knowledge test All items were statements of relationships which could be observed and were open to testing They were not questions involving hypothetical values or merely questions of right or wrong A few examples will illustrate their nature

1 Drinking a half-gallon of wine every week will injure one's health and efficiency

2. Smoking makes a girl coarse and weakens her character.
3. Our laws are more favorable to the rich than to the poor.
4. Government ownership of railroads and public utilities such as electric power plants and telephones would give better service than private ownership.
5. If divorce laws were not so strict there would be many more happy marriages.
6. If crime movies were abolished the number of crimes would decrease considerably.

The subjects were asked to indicate by encircling a number for each statement whether they thought the statement was completely true, true to a large degree, an open question, false to a large degree, or completely false. Number 1 represents a completely true and number 5 a completely false statement. Most of the items were deliberately designed to be open questions. The comparison between the upper and lower quartiles of the group of eighty-three subjects is given in the following tabulation:

Group	Number	M (1+5)	Range of Middle 50 Per Cent of Cases
High quartile	20	11.45	6 to 14
Low quartile	20	19.10	15 to 25

The data indicate the number of subjects in each group, the average number of statements accepted as true or false, and the range in number of statements accepted by the middle 50 per cent. The low group accepted almost twice as many statements as settled issues as did the high group. The variability of the two groups is about the same and there is no overlapping in the middle 50 per cent. It appears from the data in the above tabulation that subjects who understood the dynamic nature of knowledge evidence considerably fewer prejudices in every day problems than subjects who are not aware of the nature of pragmatic knowledge. That the relationship is a causal one, that is, that a more complete understanding of the nature of knowledge would bring about a reduction in prejudice, is further demonstrated in the study of Musgrove (p. 115-128).

SUMMARY

This paper has attempted to develop the concept of the "changing probability" or a "dynamic" character of knowledge, and to present analytical and experimental evidence of the role of that concept in behavior.

Considered first was the process by which scientific knowledge is obtained. Knowledge has its source in measures or observations having greater or lesser variability. In the best techniques several observations of each phenomenon are made and the results expressed in terms of an average and its variability. This gives knowledge a "probability" characteristic. Viewed over a period of time it is noted that continual changes in the knowledge of any field may take place. Hypotheses may be subjected to test and thus translated into generalizations of known probable error. The development of more accurate measuring instruments may result in improved generalizations with smaller probable errors. Such changes may take place in any or all portions of a given field. They may be of all magnitudes. They may take place at all speeds.

The role of this concept in behavior was studied analytically and experimentally. An analysis was made of such problems as the conflict between youth and adults, the application of principles and rules, the meaning of "old," "modern," "out-of-date," and "accuracy", the use of theories and hypotheses as guides to action, the effect of various attitudes toward social problems, and the fundamental significance of adult education.

When these problems are analyzed it is observed that: (1) The conflict between youth and adults may be rooted in a common misconception of the nature of knowledge, which, if understood, leads to the realization that the conflict is wholly unnecessary. (2) No principle or rule can be used with the greatest success without an appreciation of the magnitude of its probable error. (3) Theories and hypotheses cannot be best utilized in action unless the unknown character of their probable errors is realized and action, essentially in the nature of an experimental inquiry, is indicated as the logical course. (4) Adult education need not rest its laurels on a remedial or reparative function for it has a positive and exceedingly vital function to perform in assisting the individual to keep pace with advancing knowledge.

A study of the concepts of 213 high school seniors revealed a very inadequate understanding of the dynamic nature of knowledge. Only about one-half of the group were unwilling to use knowledge ten years old unless recent developments were incorporated. About one-fourth of the group are aware of the approximate character of measurements. One in seven could describe how the size of the probable error was related to the probable success of plans or predictions. Less than 10 per cent were able to indicate the boundaries or limits of knowledge

in a field of their own selection or to name and describe an example of a scientific investigation in that field

An analysis of a group of eighty-three students on the dynamic conception of knowledge test indicates that the group which considers knowledge as having a static character tends to be more prejudiced in the consideration of controversial issues of everyday life than the group which recognizes knowledge as having a dynamic character The latter group evidences significantly greater care in the approach to social issues Youths armed with a dynamic concept tend to assess and apply knowledge more accurately than their companions armed with less fortunate and more poorly equipped static concepts

PART FIVE

AN EXPERIMENTAL STUDY OF THE DYNAMIC CONCEPTION OF KNOWLEDGE IN YOUTH

by

Ruth Musgrove

AN EXPERIMENTAL STUDY OF THE DYNAMIC CONCEPTION OF KNOWLEDGE IN YOUTH

INTRODUCTION

Whenever knowledge is applied, as in the case of parents who seek knowledge of child development to apply it in guiding their children, an interesting characteristic of knowledge comes to light Fundamentally, from the pragmatic point of view, a field of knowledge presents a medley of hypotheses and generalizations having probable errors of various magnitudes Some generalizations are summaries of data having a large probable error, others are summaries of data having a smaller probable error It is not possible to use knowledge, as in developing a plan of action and predicting its success, without taking into account the respective probable errors of the generalizations involved This characteristic of knowledge is often overlooked in application

In much of the reading material and lectures which are offered as helps to parents in guiding their children, generalizations are stated positively, with no account taken of their respective probable errors And when a statement is made only tentatively, it seems to lose its appeal or significance for many people They seem to have no conception of the nature of knowledge or the possibility of its growth and change

If we measure a simple relationship, such as the length of the cupboard, we find a very small variability as we measure from time to time The best statement of the length of the cupboard will be the average of all the measures and its probable error If we measure a complex relationship, such as a child's attention span in a play situation with blocks, we find a large variability in our repeated measures The larger variability is due both to the fluctuations in factors not completely under control, and to the comparative unreliability of the method of measurement Still the best statement we can make of the child's attention span will be an average of all the observations plus its probable error

Aside from this error in the very base of our knowledge, there is another factor which leads to confusion in the minds of persons who wish to use all knowledge as a formula to be applied with sure results

The state of knowledge is changing continually. We can consider all knowledge as ranging in exactness from a guess or hypothesis to a well-tested generalization based on highly refined, controlled measures and observations. Day by day some of the hypotheses are being transferred up the scale, the size of their probable errors lessened. It is on such a concept of knowledge and its use that this study is based.

This conception of knowledge as something having not only a "probability" character, but a "changing probability" or "dynamic" character appears of fundamental importance in a number of problems. It is not possible to use knowledge as a recipe for human behavior. The nearest approach that can be made safely is to state every prediction so as to include an indication of the size of the probable error of the knowledge on which the prediction is based. In some cases, as in the so-called "exact" sciences, many of the probable errors are relatively small and the corresponding error of prediction will be small. In the social sciences, many of the probable errors are relatively large and the corresponding error of prediction is large. It would seem that these ideas are significant wherever and whenever a plan of action is developed. Ojemann (5) and Thorndike (3) have pointed out the importance the probability concept plays in the discussion of controversial issues.

The concept also seems fundamental to the field of adult education. Logically, in no field can an intelligent application of a generalization be made unless it is brought up-to-date from time to time. This gives basic importance to continuing an adult education.

This concept of knowledge may have a part to play in the conflict of youth and adult. Youth cannot flout a tested relationship within the limits of the probable error without taking the consequences. Neither can it classify as "old-fashioned" tested knowledge, no matter how old, if the limits of the probable error are recognized. On the other hand, age cannot logically expect an hypothesis or generalization of large probable error to be accepted by youth as knowledge of the same order as that having a small probable error, no matter how dear to the heart the hypothetical assumption may have grown. The mere passing of time does not change the size of the probable error.

In the same manner, such a dynamic conception of knowledge may assist in making an intelligent appraisal of the contributions or limitations of the past and of traditions to matters of manners and morals when these are viewed from the pragmatic viewpoint.

Summary of Previous Studies

Ojemann (5) assisted by Dawe, carried out a study to determine to what extent high school students are aware of knowledge as changing or "dynamic." Two groups of high school seniors were used, totaling 213 subjects. They found that about one-half of the group recognized the changing character of knowledge to the extent of being unwilling to use ten-year old knowledge unless recent developments are added. About one-fourth of the group was aware of the approximate character of measurements. About one-half of the group realized that time alone does not change the size of error in knowledge. For them knowledge is old-fashioned only when some new discovery or better measure has been found since the original knowledge.

A comparison was made between the high and low groups when ranked according to the score on the *Dynamic Character of Knowledge Test*. It was found that those who made low scores on the test seem to have more settled convictions on problems which are not closed issues. They were also shown to have a tendency toward a more immature attitude toward social activity and customs than the high group. According to an application of the Luria technique, the low group tended to give more indications of conflict than the higher group. Some evidence thus exists which tends to indicate the effect of a dynamic conception of knowledge. The question arises, can high school students develop an understanding of the concept, and if so, what is the effect upon attitudes?

Statement of the Problem

This study has three aims. First, its purpose is to determine whether an understanding of knowledge as dynamic rather than static can be developed by high school students in one or two specialized fields. The specific fields used were nutrition and child development. Second, the study aims to discover whether such an understanding in these specific fields can be developed to a generalized level so that it can be applied to other specific fields without further specific teaching. Third, the study attempts to throw further light on the question "What is the effect of the development of such a concept of knowledge on the attitudes of high school students?" The time interval between the beginning of the learning program and the final measure of attitude was relatively short, but nevertheless an attempt was made to detect any influence of change in knowledge on change in attitude.

PROCEDURE

General Plan of Study

A group of high school seniors was tested to determine their level of understanding of a dynamic concept of knowledge. Their attitudes toward certain social issues and practices were determined by an attitude test. The group was then divided into experimental and control divisions. To the experimental division a prepared learning program was administered. The learning program was designed to give the subjects an understanding of the dynamic conception of knowledge. The control division proceeded with the usual class work. At the end of the training period the experimental and control divisions were again tested to determine the changes made both in knowledge and attitudes. Comparisons were then made between the initial and final tests, between the experimental and control groups, and between the knowledge and attitude tests to determine the extent of change in knowledge, the effectiveness of the learning program, and the relation of change in knowledge to change in attitude.

Subjects

Thirty-nine high school seniors served as subjects. These were divided into an experimental group of twenty-five and a control group of fourteen, which were equated as nearly as possible on IQ and special observations. In equating the groups, scores on the Otis Group Intelligence Test and special observations supplied by the Principal of the school were used. The experimental group had an average IQ of 103.5 with a standard deviation of 10.11. The control group had an average IQ of 103.4 with a standard deviation of 8.5. The IQ range in the experimental group extended from 83 to 125, that of the control group from 91 to 125. The sexes were divided as evenly as possible between the two groups, the experimental group having fourteen boys and eleven girls, and the control group having eight boys and six girls. Any peculiarities of individuals which would have unbalanced the groups were adjusted through the special observations of the Principal who knew the subjects well.

Measuring Instruments

The tests used included the *Dynamic Concept of Knowledge Test* developed by Ojemann (5), and a short form of the attitude test developed by Gabriel (1). The initial test for *Dynamic Concept of*

Knowledge contained the following items

Item 1 General possibility of growth of knowledge
Item 2 Parts a and b Probability character of knowledge
Item 2 Part c Relation of the size of errors of measurement to the errors in subsequent operations
Item 3 Time as a negative factor producing change, and relation of error of measurement to errors in subsequent operations
Item 4 General possibility of growth of knowledge
Item 5 Function of research
Item 6 Concrete example of the growth of knowledge
Item 7 Limits of present knowledge
Item 8 Time alone as a negative factor, research as a positive factor producing change
Item 9 Relation of size of probable error to use of knowledge in prediction

To these items were added two more on the final test to determine whether the conception of the possibility of growth of knowledge had been generalized sufficiently so that its application to fields other than those specifically studied was being made These items were.

Item 10 Probability character of measurement in the field of preventive medicine
Item 11 Relation of size of error to use in prediction in the field of education

A copy of the test is given in the thesis on file at the University of Iowa library Some of the items require a short discussion To objectify the scoring procedure a detailed scoring key was developed in terms of typical answers receiving specified scores The scores on the *Dynamic Concept of Knowledge* test were computed as per cents of the possible total score Each item was scored according to its quality, as in the scoring key, as zero, one-fourth, one-half, three-fourths, or full credit Since in the initial knowledge test there were ten items, the total possible score was ten The number of points made by each subject was added and expressed as a per cent of the total possible points In the final knowledge test there were twelve items, making the total possible score twelve The number of points scored by each individual was again added and expressed as a per cent of the total possible points The individual score on both the initial and final test is thus the per cent of total possible points scored The reliability of the test is indicated by the correlation of the scores on initial and final tests of the control group The control group was retested after an interval of two weeks The correlation between the scores is 89 ± 04

The attitude tests consisted of two parts. In the first part was given a series of statements to determine open-mindedness on social, moral, and ethical questions. Examples of statements appearing in the test are:

> "Older persons learn by experience to be more tolerant and broad-minded."
>
> "If we could eliminate slums from all our cities we could abolish crime."
>
> "Men who play poker are likely to be selfish and untrustworthy."

These were checked by the subjects on a five-point scale which represented "more or less completely true," "probably true or true to a large degree," "undecided, an open question," "probably false, or false to a large degree," and "more or less completely false." The score is the number of extreme statements made, that is the total number of statements marked "more or less completely true," or "more or less completely false" is the subject's score.

The second part of the attitude test consisted of three problematic situations to which the individual was given a choice of responses. These were chosen from Gabriel's scale as representative of situations comparable to those which confront the subjects of the present study. Situation I was known in Gabriel's test as Situation III in the social conformity scale. The problem was that of a girl's use of cosmetics in a community where the use of cosmetics was opposed by social custom. The possible responses to this situation were such statements as:

> "She should modify her use of cosmetics."
>
> "I think she should be free to use as much cosmetics as she likes."
>
> "She should pay no attention to what people say."

Situation II and III were known in Gabriel's test as Situation I and III in the scale of attitude toward dancing. Situation II presented the problem of a young girl attending a small, well-chaperoned dance with a select group of young people. The responses to this situation were in the form of statements which should be made by her mother to her about the dance, such as:

> "Dancing is an enjoyable exercise, and I hope you will have a good time."
>
> "You will be much better off in bed."
>
> "You know the group that will be there, and it is up to you to decide whether or not you care to accept the invitation."

Situation III presented the problem of a group of young people going to a dance in a neighboring town where they would mix with all ages and all social levels and dance to the music of a large and popular orchestra The possible responses are expressed in terms of parents' opinions, and the subjects were asked to check the statements which expressed their own opinions

These three items which were part of the attitude test were scored according to the scoring key presented by Gabriel (p 130-156)

Learning Program

The learning program consisted of reading material on the nature and use of knowledge, informal lectures interspersed with questions and answers and discussion by the students, and a series of problems to give the subjects an opportunity to apply the principles under discussion

The reading material was a mimeographed paper entitled *How Knowledge Grows and How We May Use It* This was written by the experimenter under the direction of Dr Ralph H Ojemann It consisted of explanations of the way in which knowledge grows, the causes of the probable error of measurement, and the relation of the probable error to use of knowledge The specific examples illustrating the various points were all drawn from the fields of child development and nutrition An effort was made to simplify the presentation as much as possible According to Gray and Leary's formula (2) for determining reading difficulty, the reading material had an average reading score of 1 323, or about the level of Stewart's *Country Life Reader,* Book II

The lectures were prepared in outline form and presented informally Opportunity was given for questions on the part of students, and all questions were answered fully and discussion encouraged The problems were presented orally Half of them were discussed by the group and the other half were answered individually in writing

Four periods of one hour each were available for the experiment In the first of these the two groups were assembled and given the initial tests of knowledge and attitude Sufficient time was allowed to permit every student to finish both tests without being hurried Thirty minutes sufficed for most subjects, and all had finished in forty-five minutes At the end of the initial testing period, the division of subjects into the experimental and control groups was made The control group was dismissed to another room while the experimental group remained for

a ten-minute period which was devoted to the definition of knowledge, a brief explanation of the purpose of the learning program, and the assignment of the reading material

For the second hour period, the experimental group met with the experimenter while the control group met in another room and continued with their usual work in social science The experimental group listened to the informal lecture and took part in the discussion This period was devoted to definitions of knowledge, its range, its variability from field to field, and its growth both by the addition of facts and the refinement of error in present knowledge The inevitability of error in all measurements was also presented and discussion begun on that point During the class discussion three of the prepared problems were given orally to the class These were discussed and solved by the group

In the third hour period of the experiment, the discussion of the probable error of measurement was continued The relation of size of error to use of knowledge was also presented and discussed Problems were presented orally for the subjects to solve individually, writing the solution down with an indication of the reasoning by which they arrived at their conclusions Questions were answered on all points not clear to the subjects

In the final period, the full hour was devoted to the administering of the two final tests of knowledge and attitude to the combined groups The time interval between the first and last periods was two weeks

ANALYSES OF DATA

The analyses of the data will be presented in four parts

a Extent of dynamic concept of knowledge in total group and a comparison with former studies
b Effectiveness of the learning program in specific fields and in generalized areas
c Correlations between significant factors
d Changes in attitude accompanying changes in knowledge

Extent of Dynamic Concept of Knowledge in Total Group

The per cent of the total group of thirty-nine subjects receiving three-fourths of full credit on various items of the knowledge test is given in the following tabulation

Item	Present Study	Ojemann's Study (3)
Aware of changing character of knowledge	43	47
Probable error character of measurements	15	25
Relation of probable error to use		
Magnitude of probable error with time	36	49
Magnitude of probable error with errors in subsequent operations	24	14
Variations in magnitude of probable error with prediction	18	12
Example of scientific investigation	23	6
Approximate limits of knowledge	41	3
Function of research	17	17

The corresponding data from Ojemann's study (3) are given in the third column

In the present study, 43 per cent of the subjects recognized the changing character of knowledge to the extent of repudiating six- to ten-year-old knowledge unless recent developments could be included Fifteen per cent of the subjects recognized the approximate character of measurements Thirty-six per cent were aware that time alone does not change the size of the error of knowledge, but rather that change in knowledge grows out of research Only 17 per cent of the subjects were able to indicate the fundamental nature of research Approximately one-third could name or describe a concrete example of the growth of knowledge Twenty-two per cent could relate the size of the probable error to the size of errors in subsequent operations or to accuracy of prediction

A comparison of these data with those reported in Ojemann's study indicates a fairly close agreement between the two In both studies, about half the subjects were aware of the changing character of knowledge Twenty-five per cent of Ojemann's subjects were aware of the probability character of measurement, with the present study the percentage was 15, as for the Relation of Probable Error to Use of Knowledge The subjects in the present study showed slightly less understanding of the relation of magnitude of probable error to time than did Ojemann's subjects However, they showed slightly more awareness of the relation of magnitude of probable error to errors in subsequent operations and to prediction The difference between the subjects of the two studies in the ability to state satisfactorily an example of scientific investigation and to designate the approximate limits of knowledge is probably due in large part to the fact that Ojemann's subjects were asked to give two examples in their test, and the subjects of the present study were only asked to give one The two studies showed equal understanding of the function of research

Effectiveness of the Learning Program

In Specific Fields Taught The comparisons of the initial and final scores on the knowledge test for the experimental and control groups are given below

	Group I		Group II	
	Initial	Final	Initial	Final
Mean	35 3	47 9	30 7	29 8
S D				
dist	15 7	15 9	16 3	12 4
Difference	12 6		—1 9	
σ difference	4 4		5 8	
Ratio of difference to standard deviation of difference	2 8		3	

The experimental group made a gain of 12 6 ± 4 4 The ratio of the difference to the standard error of the difference is 2 8, which is considered significant There are 99 chances in 100 that the difference is as scored The control group shows practically no change in score, the difference —1 9 ± 5 8 can easily be accounted for through chance fluctuations

Another method of determining the significance of the differences between initial and final tests is illustrated by the following data

	Initial Test	Final Test
Experimental group	35 3	47 9
Control group	30 7	29 8
Difference	5 4	19 1
σ difference	5 4	4 9
Significance ratio	1 0	3 9

Differences between the group scores in the two tests show no significant difference on the initial test The score difference was 5 4 ± 5 3, the ratio of difference to standard error of the difference was 1 0 On the final test the difference between the two groups was 19 1 ± 4 9 in favor of the experimental group The difference shows a ratio with its standard error of 3 9, indicating that the difference is significant

These differences show a significant change in the experimental group over the period of the experiment The control group does not show this change The gain in the experimental group of 12 6 ± 4 4 has a significance ratio of 2 8, high enough to be considered significant There are 99 chances in 100 that the difference as scored is a real difference The ratio of 3 for the loss in the control group, however, shows that the loss is not statistically significant The gain of 12 6 points of the experimental group, and the difference between the two groups at the end of the experimental period, indicate that it is possible for high school students to develop an understanding of the "changing probability" character of knowledge

Another aspect of the question of effectiveness is the interest of the students. It may be that they can learn, but do they learn efficiently? The observations of the experimenter in the present study were that about three-fourths of the subjects of this study were interested, as shown by the questions asked. All the students read the assigned reading material. About four-fifths of the subjects seemed eager to take part in the discussion, offering their own opinions from time to time and bringing up new aspects of the problem. Nearly all asked questions, since the learning periods were informal. Their questions and opinions seemed to indicate that the concept of knowledge under discussion had a direct bearing on their own lives and problems.

Extent of Generalization. Some of the items comprising the knowledge tests relate rather specifically to the fields of child development and nutrition. It was from these fields mainly that the illustrations were drawn which were used in the learning program. It is therefore of interest to determine how the scores on the items specifically relating to child development and nutrition compare with the scores on comparable items not specifically related to the teaching area.

In the initial and final tests, two items were included to measure the awareness of the growth of knowledge. One relates to child nutrition. The other relates to soil fertility. The average scores on the initial and final tests are as follows:

	Initial	Final	Gain
Nutrition	50	58	8
Soil fertility	33	42	9

Gains were made on both items although the increases on both are relatively small.

Several other comparisons can be made that may throw some light on the extent to which the concepts were generalized. In the final tests two items were included measuring the awareness of the subject of the probable error character of measurements. One considered simple measures of length. Comparable illustrations had been used in the reading material. The other item considered measures of ability in arithmetic. The initial and final scores of the first item are, respectively, 35 and 67, or a gain of 32 points. The second item was not included in the initial test, but if the score of the control group can be used as a measure of relative difficulty, the respective scores are 34 and 43, or a gain of 9 points.

One item was included in the initial and final tests which considers the relation of the magnitude of probable error in basic data to the error in prediction. The fields considered are chemistry and educa-

tion This item yielded an average score of 28 on the first and 30 on the second, or a gain of 5 points

Thus while the data are obviously not comprehensive, all of the comparisons tend to indicate that gains were made in the application of the ideas to larger areas than merely those considered in the learning program

Changes in Attitude Accompanying Changes in Knowledge

The data showing a comparison of scores on Part I of the initial and final attitude tests are given below

	Initial	Final	Difference	Ratio
Group I	9 5	7 3	1 7±1 1	1 5
Group II	8 0	8 0	0 0	

In Part I of the attitude test series, the experimental group shows a change of 1 7 ± 1 1 The significance ratio for this difference is 1 5, or 43 chances in 100 that the difference is significant The control group made no change

Although only a short time had elapsed between the initial and final tests, there is some evidence already of a change It must be remembered that the learning program was confined strictly to the fields of nutrition and child development and did not consider any of the fundamental issues comprising this test Any change that occurred took place through the indirect route of the influence of knowledge upon attitude

The data from Part II of the attitude series are given below

	Situation 1	Situation 2	Situation 3
	Group I		
Initial	4 9	4 1	4 8
Final	5 2	4 9	4 5
Difference	3	8	3
	Group II		
Initial	4 6	3 4	4 6
Final	4 7	4 3	4 6
Difference	1	9	0 0

There were no significant changes made in Part II of the attitude series The experimental group shows a change of 8 in Situation II, but the control group shows a similar change

The results presented in this chapter show that high school students are capable of developing a dynamic conception of knowledge The concept as it was presented in this study does not appear to be too abstract for them The tendency toward a change in attitude accompanying the change in knowledge indicates that the dynamic conception of knowledge may be helping them to adjust their thinking on social problems.

SUMMARY

The purpose of this study is three-fold. It attempts to determine whether a conception of knowledge as having a "changing probability" or "dynamic" character rather than a static character can be developed in specific fields by high school students. It also wishes to answer in part the question, can this conception of knowledge be developed to such a generalized level that it will be applied to fields other than those to which the teaching is restricted? The third aim of this study is to throw further light on the influence of knowledge on attitude.

Thirty-nine high school students, divided into an experimental group of twenty-five and a control group of fourteen, were used as subjects. The groups were equated on the basis of IQ scores on the Otis Group Intelligence Test. Three tests were used in this study: Ojemann's (5) *Dynamic Concept of Knowledge Test*, a short test on attitude toward controversial social issues, and a short form of the attitude test developed by Gabriel (1).

A learning program which emphasized specifically the changing probability character of knowledge in the fields of child development and nutrition was administered to the experimental group. Two one-hour periods were devoted to the learning program. At its conclusion both groups were again tested for knowledge and attitude. Two weeks elapsed between the initial and final tests.

Comparisons were made between scores of the initial and final test, between the achievements of the two groups on the tests, and between certain items indicative of the concept of knowledge in the specific teaching areas and in generalized areas. An effort was also made to determine whether the change in knowledge would change attitudes significantly in so short a time.

The findings show that it is possible for high school students to develop an understanding of the "changing probability" or "dynamic" character of knowledge. The experimental group showed a significant increase in average score on the *Dynamic Concept of Knowledge Test* which the control group did not show.

While the comparison of items to determine the development of the concept in generalized areas was not comprehensive, yet it showed a tendency toward generalized application of the principles learned in specific fields.

Although the time between the initial and final tests is short, there is some indication of a tendency to be more open-minded on controversial questions and social issues. An increase in the understanding of

the true nature of pragmatic knowledge seems to aid in making a more accurate appraisal of controversial issues

Such results would seem to have far-reaching significance The "changing probability" nature is a characteristic of all pragmatic knowledge It was indicated previously that this conception is of fundamental importance wherever knowledge is applied If high school students can develop an understanding of this characteristic, then it would appear difficult to justify the present relative lack of emphasis upon it in the training programs of adolescents, youth, and adults It would seem that teachers of knowledge in all fields including parent education should do an "about face" in their preoccupation with a static concept of knowledge and accuracy, and cultivate the very fundamental and vital "changing probability" conception

REFERENCES

1 Gabriel, Anne A study of the attitudes of parents of adolescents [In] Ojemann, Ralph H, Brandon, Vera H, Grant, Eva I, and others Researches in Parent Education IV Univ Iowa Stud, Stud in Child Welfare, 1939, XVII, Pp 181, p 130-156

2 Gray, Wm S, and Leary, Bernice E What makes a book readable With special reference to adults of limited reading ability An initial study Chicago, Ill University of Chicago Press, 1935 Pp xviii, 358

3 Thorndike Edward L In defense of facts J Adult Educ, 1935, 7, 381-388

4 Ojemann, Ralph H Theoretical considerations underlying curricular and learning studies [In] Ojemann, Ralph H, Ackerley, Lois A, Butler, Evelyn I, and Hedrick, Blanche E Researches in Parent Education III Univ Iowa Stud, Stud in Child Welfare, 1935, 10, Pp 391 (p 9-27)

5 Ojemann, Ralph H A dynamic concept of knowledge in the education of youth Official Report, American Educational Research Association Reconstructing Education Thru Research Washington, D C American Educational Research Association, 1936 Pp 301 (p 74-81)

PART SIX

A STUDY OF THE ATTITUDES OF PARENTS OF ADOLESCENTS

by

Anne Gabriel

A STUDY OF THE ATTITUDES OF PARENTS OF ADOLESCENTS

THE GENERAL PLAN OF STUDY

It is the purpose of this investigation to study several questions relating to the attitudes of parents of adolescent children There are many attitudes of parents toward the activities and behavior of adolescent children that appear important One group relates to the interaction between the sexes such as dancing and petting Another relates to the conformance or departure from modes of behavior accepted by adults as proper Still another concerns the assumption of responsibility by adolescents

For each attitude, several questions may be asked What is the attitude held by untrained parents? Can the attitude be modified? If so, what is the relative ease at various chronological and mental age levels? What types of learning programs are the most effective in producing changes? What are the influences of the attitudes of parents upon the development of their children? What are the attitudes held by trained persons?

In this study six attitudes were selected for study. They include three related to the interaction of the sexes, namely, petting, dancing, and attending mixed swimming parties, and one related to each of the following aspects of adolescent behavior social conformity, fulfillment of assumed responsibility, and becoming self-reliant For each attitude a measuring instrument was developed and data were obtained relative to two of the above questions What is the attitude held by untrained parents? How does the attitude of untrained parents compare with that of persons having an extensive background in child development and who are engaged in the process of guiding adolescent children?

This study is one of a series of investigations conducted at the Iowa Child Welfare Research Station for the purpose of supplying data to develop more effective programs of learning for parents and to study the influence of factors in the family or home environment upon the development of children Studies of parental attitudes at preschool and elementary levels have been made by the following Ackerley (1), Butler (2), Coast (3), Hedrick (4), Ojemann (5), Phillips (6), and Roberts (7)

Ackerley made a psychological analysis of certain knowledge and attitudes of parents of elementary school children Butler studied the needs of high school students and constructed a program of learning for certain phases of child development and family relationships The data from her study indicate that growth in attitudes may be brought about at the high school level by a well-constructed learning program Coast made a study of the knowledge and attitudes of parents of preschool children Through a learning program she was able to produce changes in knowledge Hedrick investigated the effectiveness of a program of learning designed to change parental attitudes toward self-reliance in the preschool child and found that the program resulted in a significant change in the direction of favorability Ojemann devised attitude scales toward self-reliance for three levels of development—the preschool child, the elementary school child and the adolescent child These scales have been used by Ackerley, Hedrick, and in the present study Phillips devised a method for studying parental behavior in relation to the eating and sleeping activities of preschool children Roberts developed forms for recording the home play of preschool children, which included the type and number of verbal controls used by the parent in the play situation She studied the influence of certain changes which she made in the home environment upon the behavior of parents and children

The plan of this investigation includes the following

1 Constructing scales for measuring parental attitudes toward various phases of adolescent development

2 Measuring the attitudes of a cross-section of parents relative to these phases of adolescent development

3 Comparing the attitudes of parents highly trained in child development with the attitudes of parents who are relatively untrained in child development

The methods of constructing the scales, their administration, and the analysis of the results appear in the following chapters

THE CONSTRUCTION OF THE SCALES

General Plan

One of the best known methods of measuring attitudes is that employed by Thurstone He applied a technique well-known in psychophysics to the scaling of statements expressing various degrees of favorability or unfavorability toward some psychological object His scale takes the form of a series of general statements arranged on an 11 point

continuum One of the major difficulties of this method is that differences in meaning assigned by various subjects to the key-concepts are not taken into account

Two methods were used in the present study to overcome this difficulty The first is to ask the subjects to adopt a given meaning for the important concepts and to apply it to each statement For example, in that part of the scale on petting which makes use of general statements, the subject is asked to consider petting as "acts of fondling or caressing between boys and girls fourteen to sixteen years of age, including kissing and embracing but not including complete physical intimacy" This method of defining the key-concept was used in one form of the scale for measuring attitude toward petting, and in a portion of the scale for measuring attitude toward mixed swimming

This method is not entirely satisfactory especially when such difficult concepts as social conformity and assumption of responsibility are involved Hence, another method was devised which consists in setting forth the description of a situation in brief narrative form, listing several reactions, and asking the subject to check those with which he agrees For example, in the scale on petting a situation involving several young people is described Mother and daughter are discussing the happenings on the preceding evening and the following lines of action are among those suggested

> "You should have responded to his embrace and kiss"
> "You should have treated it as a joke, telling him not to be silly"
> "You should have slapped his face"

The important question which presented itself at the outset of this study relates to the Q value of such items Can situations and responses be constructed in such a way that the items will have a minimum degree of ambiguity? The data which will be presented later show that it is relatively not difficult to construct items that have an average Q value in the neighborhood of 1 5 or 2 0

For each situation an attempt was made to provide a sufficient number of statements to permit expression of varying degrees of attitude from one extreme to the other.

Scale for Measuring Attitude Toward Petting

When this investigation was started, a list of 113 general statements and five situations relating to petting were available These were scaled on an 11 point continuum by sixty-six judges all of whom were either college graduates or had had some college work including psychology. From these data each item was assigned a scale value

The scale value of each item is the median step of all of the judges' placements, and the interquartile range of the placements gives the Q value The Q value is the measure of ambiguity of the statement, those statements which have a wide distribution of judges' opinions have large Q values In this scale the statements that have Q value above 2 1 were considered ambiguous and eliminated from the scale

In addition to the statements with high Q value, two situations which did not present a distribution of items over the entire continuum were eliminated The scale was then divided into two forms Form I consists of thirty general statements and Form II of three situations which include forty-four items

The step value and Q value of the statements used in Forms I and II are given below

Number	Step Value	Q Value
	Form I General Statements	
1	10 6	0 5
2	2 9	1 3
3	1 3	1 2
4	9 1	1 6
5	9 5	1 3
6	2 3	1 4
7	9 3	1 3
8	10 5	0 6
9	6 9	1 1
10	8 7	1 7
11	1 3	0 9
12	9 6	1 1
13	5 1	1 6
14	7 9	1 8
15	1 7	1 5
16	9 5	1 3
17	0 8	1 1
18	8 5	1 6
19	10 6	0 8
20	5 0	1 6
21	0 6	0 6
22	10 0	1 2
23	3 5	1 1
24	1 9	1 2
25	0 9	1 3
26	2 7	1 4
27	4 2	1 7
28	3 4	1 3
29	1 1	1 6
30	2 7	1 5
	Form II Situation I	
a	1 4	0 9
b	9 3	1 3
c	4 1	1 9

d	6 4	2 1
e	2 5	1 0
f	5 4	0 9
g	5 3	1 8
h	10 0	1 1
i	4 8	1 7
j	9 4	1 5
k	0 4	0 3
l	10 5	0 6
m	8 0	1 4
n	9 6	1 2
	Situation II	
a	8 7	1 3
b	1 8	1 4
c	8 5	1 4
d	9 2	1 9
e	10 2	0 8
f	7 7	1 5
g	10 5	0 5
h	3 9	1 4
i	1 5	1 7
j	7 1	1 4
k	0 4	0 8
l	5 8	0 9
m	7 8	1 7
n	4 2	1 3
o	10 7	0 6
p	5 6	0 7
	Situation III	
a	1 4	1 3
b	10 5	0 7
c	7 2	1 6
d	8 5	1 7
e	5 5	0 4
f	9 6	1 4
g	6 2	1 6
h	4 3	1 4
i	7 7	1 5
j	1 0	1 1
k	9 3	1 4
l	10 4	0 6
m	7 0	1 2
n	10 0	0 8

The Scale on Mixed Swimming

The method of constructing this scale was similar to that used in constructing the one on petting, except that in this scale the statements were printed on the left half of a page and the series of digits from 1 to 11 on the right half of the page with instructions to the judges to encircle one of the numbers to indicate the point at which the statement would fall on the attitude continuum. This method of judging the statements is less laborious than sorting cards A sample sheet and full instructions for judging are given in the thesis on file at the University of Iowa library

The judging of the items was done by faculty members and graduate students at the University of Iowa The number of judges used in this scale was eighty-three

The situations in this scale were set up in such a way as to measure the differences in subjects' attitudes toward different situations One situation was set up in which the party included responsible teachers from the high school In the three other situations the parties were unchaperoned and included such conditions as going to and from the swimming place in small groups, lying on the sand, etc.

After the seventy-one statements composing the scale had been rated by the judges, the scale value and the Q value of each opinion was calculated and the statements that had a Q value above 3 5 were declared ambiguous and eliminated from the scale. There were twenty-four such statements The step value and Q value of each of the remaining statements are given on the following pages The mean Q value of the opinions in this scale is 2 2 and the estimate of reliability of Q values is 14 scale units, which is a satisfactory reliability for scale values which are recorded to one decimal point

Number	Step Value	Q Value
	General Statement	
1	0 8	1 5
2	9 9	1 7
3	0 9	1 7
4	9 7	1 8
5	10 1	1 4
6	9 1	2 0
7	1 8	2 1
8	9 4	2 1
9	10 3	0 7
10	1 3	2 8
11	4 2	3 1
12	5 3	2 9
13	4 5	3 1
14	9 6	1 9
15	8 6	2 1
16	4 6	2 9
17	1 6	2 0
18	7 8	2 4
19	5 0	3 2
20	1 1	2 2
	Situation I	
1	0 8	1 5
2	7 2	3 4
3	4 9	3 5
4	6 4	3 3
5	10 4	0 5
6	1 0	1.4
7	5 6	3 1
8	1 1	1 8

9	3 0	2 9
10	4 6	3 5
11	9 4	1 9
	Situation II	
1	9 9	2 1
2	1 7	3 4
3	8 9	2 7
4	9 4	2 3
5	4 8	3 3
6	1 6	2 8
7	8 9	2 4
8	1 5	2 3
9	0 8	1 7
10	5 3	2 2
11	7 9	2 3
12	6 4	3 3
	Situation III	
1	1 2	2 8
2	1 7	2 8
3	9 1	2 4
4	7 6	3 0
5	8 1	2 4
6	8 7	2 3
7	10 0	2 1
	Situation IV	
1	10 1	1 9
2	7 8	3 5
3	1 5	2 2
4	4 2	3 0
5	8 6	1 8
6	10 0	1 7
7	1 1	2 1

The Scale on Dancing

This scale was constructed according to the same plan as those relating to mixed swimming except that in this scale only situations were used Fifty-one judges rated the statements The scale values and Q values of each of the thirty-three statements are given below The statements that had a Q value above 3 5 were omitted from the scale because of ambiguity The mean Q value of the statements is 2 0 and the reliability of the scale values is 17, which is satisfactory for scale values which are recorded to one decimal point.

Different types of situations are represented In the first situation the dance is a small, private, well-chaperoned affair In the second, the dancing takes place at a public dance hall with a "questionable reputation" The third describes a public dance in an "approved" environment at a neighboring town

Number	Step Value	Q Value
	Situation I	
1	8 3	2 1
2	0 9	1 3
3	9 4	1 6
4	6 8	2 5
5	3 6	2 2
6	6 9	3 0
7	5 4	0 7
8	5 1	3 4
9	0 8	0 9
10	9 5	1 9
11	1 1	1 5
	Situation II	
1	5 5	0 6
2	7 6	1 8
3	1 5	2 7
4	9 2	1 8
5	9 7	1 2
6	4 7	2 4
7	9 3	1 8
8	9 4	1 7
9	3 3	3 1
10	3 2	2 4
11	4 5	2 9
	Situation III	
1	9 0	1 6
2	3 9	2 6
3	5 6	2 5
4	7 3	2 4
5	1 7	1 8
6	9 6	1 7
7	8 8	2 7
8	2 2	3 2
9	4 2	3 5
10	0 8	1 5
11	5 4	0 7

The Attitude Scale on Social Conformity

In the preliminary scale, eight situations with a range of statements under each were submitted to a group of twenty-five judges who had had experience in rating attitude scales The three situations that had the greatest spread of statements over the continuum and the lowest ambiguity value were selected to use as the attitude test on social conformity.

The mean Q value of the statements is 1 6, the probable error of the mean 87, which is sufficiently reliable for scale values computed to one decimal point The scale values and Q values of the statements are given in the following tabulation·

Number	Scale Value	Q Value
	Situation I	
1	0 6	0 6
2	10 3	0 6
3	1 6	1 5
4	9 6	2 3
5	6 1	2 0
6	8 0	1 6
7	4 0	3 0
8	9 8	1 4
9	5 8	1 5
10	9 0	1 8
	Situation II	
1	1 0	0 9
2	9 5	1 4
3	9 7	1 3
4	1 0	1 5
5	9 6	2 3
6	2 6	1 6
7	6 0	0 0
8	10 1	1 5
9	2 3	2 8
10	9 0	1 9
	Situation III	
1	0 8	1 0
2	5 0	2 3
3	10 0	1 9
4	10 3	0 6
5	9 3	1 5
6	4 5	3 3
7	2 5	2 1
8	5 6	1 9
9	5 0	2 2
10	1 5	2 3
11	0 7	0 8
12	6 2	2 2

The Attitude Scale on Responsibility

This scale was constructed in the same way as the scale on social conformity, using the same judges, with five situations in the preliminary scale, which were reduced to three for use in the measuring device

The mean Q value of the statements is 1 3, with the probable error of the mean 0 3 The scale values and Q values of the statements are shown in the following tabulation

Number	Scale Value	Q Value
	Situation I	
1	9 1	1 4
2	0 6	1 0
3	6 4	1 9
4	4 5	2 0

5	90	13
6	03	06
7	30	24
8	77	21
9	15	14
10	60	27
11	83	17
	Situation II	
1	100	10
2	98	17
3	07	11
4	27	09
5	16	18
6	40	18
7	81	16
8	50	19
9	14	13
10	105	07
11	48	17
12	13	16
	Situation III	
1	87	15
2	51	16
3	20	32
4	98	12
5	47	22
6	05	07
7	55	17
8	70	28
9	39	19

The Attitude Scale on Self-Reliance

The attitude scale on self-reliance was constructed by Ojemann and it is described by him in *Researches in Parent Education III* Essentially the scale consists of a series of statements of activities in which adolescents engage and the subject is asked to indicate what she believes to be the optimum age at which the ability to perform these activities should be developed For example, the parent is asked to respond to this statement, "I believe that a child should be taught to buy his own clothing without help from an adult by the age of——" by inserting the age in the blank

The scoring key was allocated on a linear continuum by a group of judges who were highly trained in the field of child development The reliability and validity of this scale are set forth in the monograph

ADMINISTRATION OF TESTS

A total of 482 subjects, all of whom are parents, was used in this study All of the subjects have children who are adolescent, between

the ages of twelve and twenty, or preadolescent, ten to twelve years

Approximately 100 of the subjects were obtained through the co-operation of study group leaders in Iowa About eighty subjects were personal friends of the investigator, living in Florida and Texas The remaining 300 were secured through home visits in Iowa City and California, Missouri

The tests were administered in small groups or individually Each subject was allowed as much time as was needed for checking each scale

A special effort was made to secure a large percentage of fathers as subjects, but, for various reasons, the co-operation of a comparatively small percentage of fathers was obtained The total of 482 comprises ninety-seven fathers and 385 mothers

Occupations

The subjects represented a variety of callings When classified by occupations, the group percentages are as follows

Occupation	Percentage
Professional	40
Clerical and Skilled	30
Semiskilled	3
Slightly skilled	1 5
Unskilled	4 5
Not given	20

Education

The subjects were classified roughly according to whether or not their education was completed in the elementary school, high school, or college The tabulation below shows the distribution

	Eighth Grade or Less	One to Four Years High School	One to Seven Years College	Not Given
Fathers	19	10	64	4
Mothers	89	115	146	35

Size of Family

The number of children in the families represented ranged from one to twelve The numbers are given below

Children	Families
1	74
2	156
3	120
4	57
5	24
6	18

7	10
8	3
9	8
10	0
11	1
12	1
Not Given	10

Ages of Children

The age range of the children was from eight days to twenty years plus The distribution is given below

Age, Years	Children
Under 10	356
10 to 20	687
Above 20	300
Not given	47

Since the number of subjects varies for each test, a brief analysis for each scale will be presented The 100 subjects used for the petting scale were obtained through the co-operation of study group leaders and through visits to homes in Iowa City and in California, Missouri Eighty-seven of the parents were mothers and thirteen were fathers. The educational background of these 100 parents is as follows

	Eighth Grade or Less	One to Four Years High School	One to Seven Years College	Not Given
Fathers	3	2	7	1
Mothers	24	28	27	

Children in Family	Cases
1	18
2	20
3	28
4	20
5	3
6	6
7	2
9	1
11	1
Unknown	1

Age, Years	Children
Under 10	66
10 to 20	171
Above 20	57
Not given	13

Responses to the mixed swimming scale were secured from eighty-three parents, nineteen fathers and sixty-four mothers The subjects were obtained through home visits to parents in Iowa City, Iowa, and California, Missouri The sampling consisted of a very heterogenous group as the following data will show.

The education of the parents is as follows

	Eighth Grade or Less	One to Four Years High School	One to Seven Years College	Not Given
Fathers	2	4	12	1
Mothers	15	19	23	7

The number of children in these eighty-three families ranged from 1 to 12, the distribution is given below.

Children in Family	Cases	Children in Family	Cases
1	12	6	4
2	24	7	2
3	13	9	2
4	15	12	1
5	7	Not Given	3

The age range of these children is from eight days to above twenty years, the distribution is given below

Age, Years	Children
Under 10	72
10 to 20	113
Above 20	77

The scale on dancing was administered to eighty-nine subjects. The education of the parents was as follows

	Eighth Grade or Less	Education One to Four Years High School	One to Seven Years College	Not Given
Fathers	4	2	13	2
Mothers	17	18	27	3

Occupations	Number
Professional	32
Clerical and skilled	17
Semiskilled	12
Minor skilled	7
Unskilled	3
Not given	17

Children in Family	Cases	Children in Family	Cases
1	15	6	4
2	26	7	2
3	23	8	2
4	11	9	1
5	4	Not given	1

Age, Years	Children
Below 10	69
10 to 20	111
Above 20	73
Not given	10
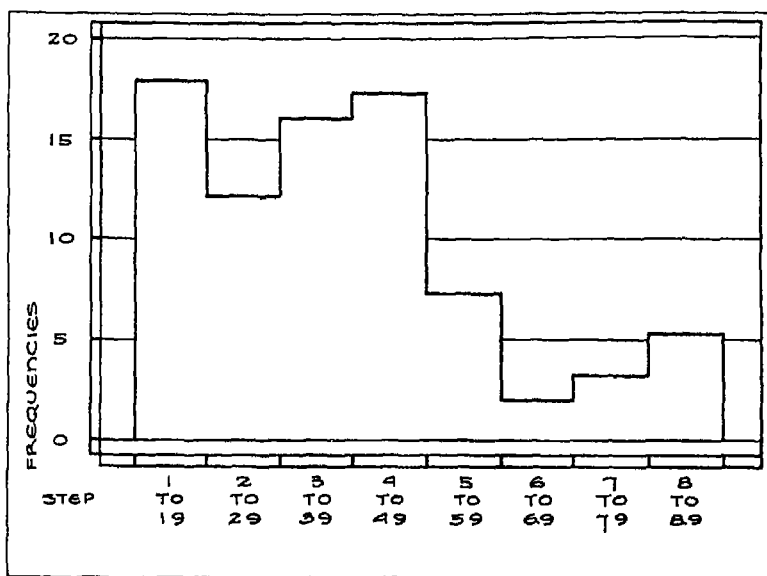
Figure 1 Attitude Toward Mixed Swimming Parties
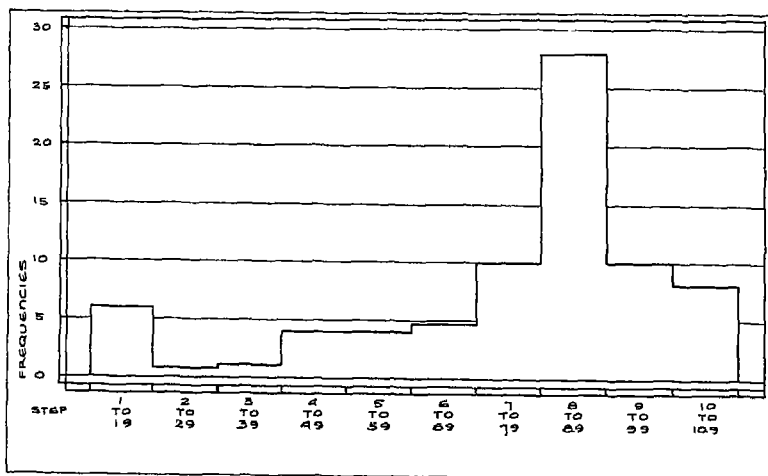
Figure 2 Attitude Toward Mixed Swimming Parties, Situations II, III, and IV

Data on the thirty-nine subjects who responded to the scales on responsibility, social conformity, and self-reliance follow

Education

	Eighth Grade or Less	One to Four Years High School	One to Seven Years College	Not Given
Fathers	1	1	8	
Mothers	3	9	16	1

Occupations	Number
Professional	22
Clerical and skilled	15
Semiskilled	
Slightly skilled	
Unskilled	1
Not given	1

Children in Family	Parents
1	5
2	19
3	10
4	1
5	3
6	1
7	0
8	0
9	1

Age, Years	Children
Below 10	35
10 to 20	56
20 and above	16

RESULTS

The subject's score is the median scale value of all the statements checked In the following discussion the results are presented

Since the attitude scales on mixed swimming and dancing contain situations that differ considerably in such factors as the general environment in which the activity takes place and the supervision, the subjects' scores on the two and three types of situations respectively for the two activities will first be given to show the importance of recognizing the variations

In the attitude scale for mixed swimming parties, Situation I was well planned and included in the party two responsible adults, while Situations II, III, and IV involved small groups with no adults, and such conditions as much lolling around or dimly lighted pools The results on the two types of situations are as follows

Situation	Mean	Standard Deviation
I	2 6	1 97
II, III, and IV	6 3	2 40

The difference in mean scores between the two is 3 7 scale steps These subjects were not opposed to parties of the type indicated in Situation I, but they were more unfavorable to the type represented in Situations II, III, and IV The distribution of the two sets of results are presented graphically in Figures 1 and 2

Attitude Toward Dancing

In the scale for measuring attitude toward dancing, Situation I is a small, private, and supervised affair. In Situation II, the dancing occurs at a public dance hall with a "questionable reputation" In Situation III the young people are planning to attend a public dance in a
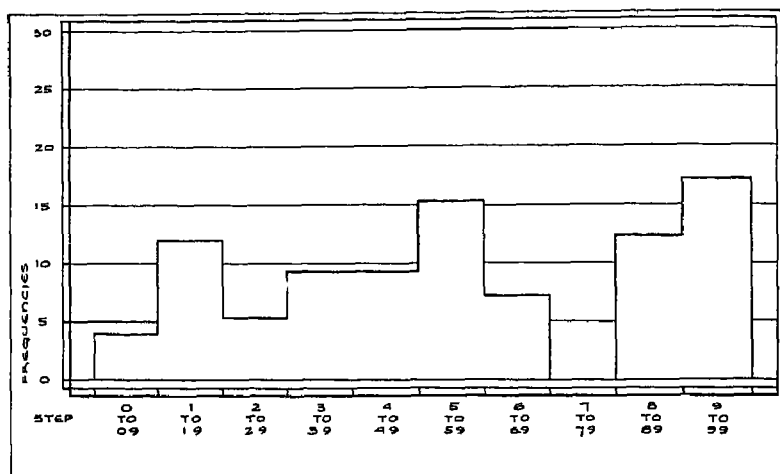
Figure 3 Attitude Toward Dancing, Situation I
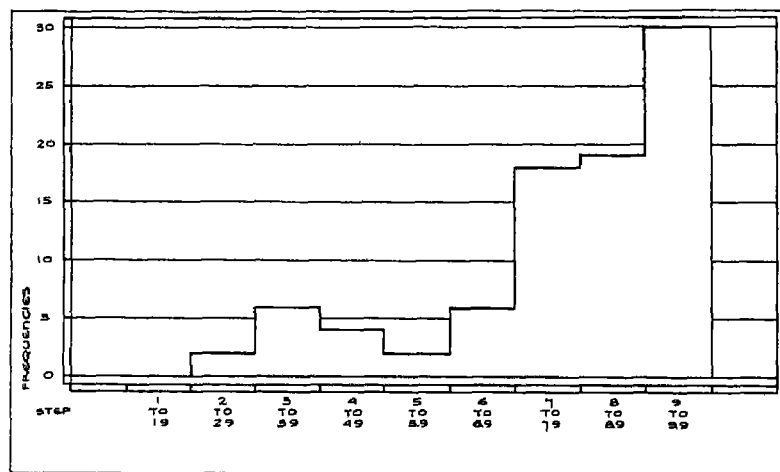
Figure 4 Attitude Toward Dancing, Situation II
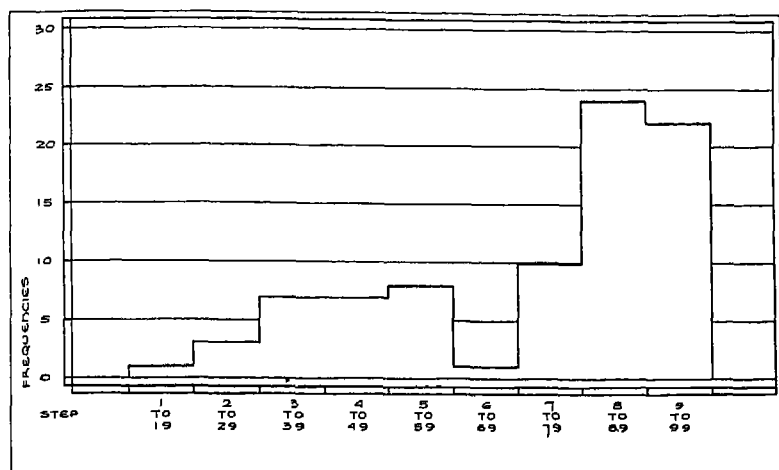
Figure 5 Attitude Toward Dancing, Situation III

good environment at a neighboring town The results for the eighty-nine subjects are as follows

Situation	Mean	Standard Deviation
I	5 4	2 92
II	7 7	1 94
III	6 5	2 27

The distributions are shown graphically in Figures 3, 4, and 5 There is a difference of 2 3 scale steps between Situation I and II
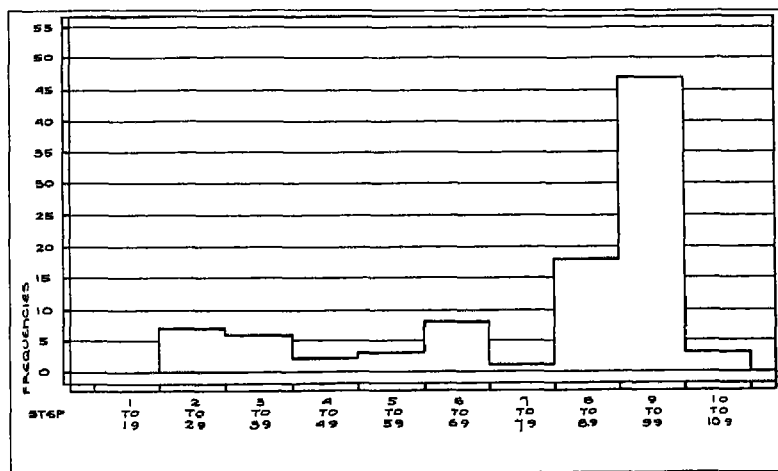
Figure 6 Attitude Toward Petting, Form I

Attitude Toward Petting

As was indicated previously, the scale on petting exists in two forms Form I consists of twenty-nine general statements and petting is defined as "acts of fondling or caressing between boys and girls fourteen to sixteen years of age, including kissing and embracing, but not including complete physical intimacy"

Form II consists of situations which are all of the same general type The scores for 100 subjects are as follows

Form	Mean	Standard Deviation
I	8 0	2 35
II	7 8	1 45

These data are presented graphically in Figures 6 and 7 Both means are on the unfavorable side of the scale

Attitude Toward Mixed Swimming

The scores on the two types of situations included in the scale for measuring attitude toward mixed swimming were given in the discussion of the influence of the type of situation upon the score In addition to the situations, the scale contains twenty general statements in which a mixed swimming party is defined as one including four or
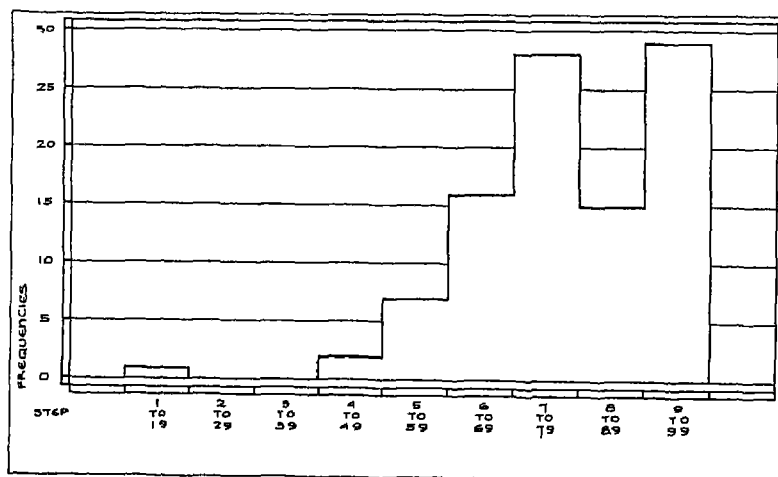
Figure 7 Attitude Toward Petting, Form II
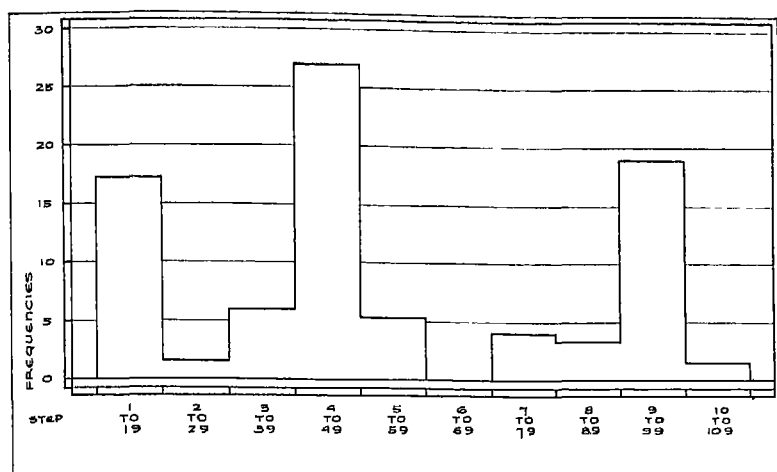
Figure 8 Attitude Toward Mixed Swimming Parties, General Statements

more couples, unchaperoned but conditions otherwise rather desirable The mean of the scores on the general statements stands between those of the two situations as shown in the following tabulation

	Mean	Standard Deviation
Situation I	2 6	1 97
General statements	5 3	2 91
Situations II, III, and IV (combined)	6 3	2 40

The distribution of the scores on the general statements are shown graphically in Figure 8

Attitude Toward Conformity in Social Customs by Adolescents

This scale consists of three situations, the first of which concerns conformity to a simple custom in social intercourse, the second, conformity in dress, and the third, the use of cosmetics by adolescent girls The distribution of the scores of thirty-nine subjects is as follows

Situation	Mean	Standard Deviation
I	3 7	1 94
II	2 3	1 68
III	4 4	1 47

The data are presented graphically in Figures 9, 10, and 11

The greatest favorability toward conformity is expressed in Situation II This is a situation which concerns conformity to dress in church attendance and probably religious sentiments enter
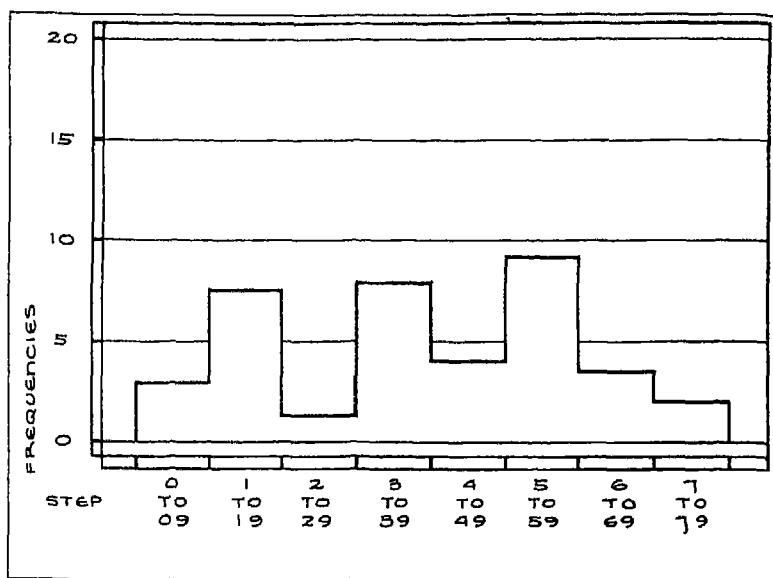
Figure 9 Attitude Toward Social Conformity, Situation I
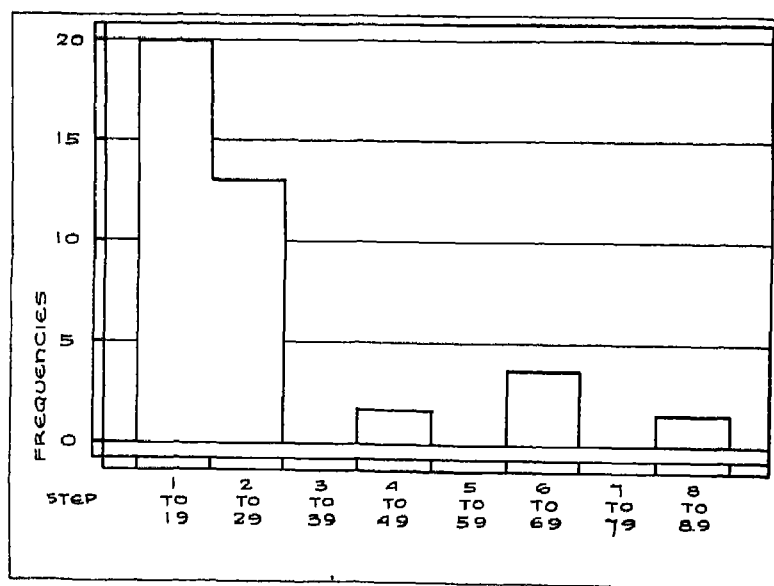
Figure 10 Attitude Toward Social Conformity, Situation II
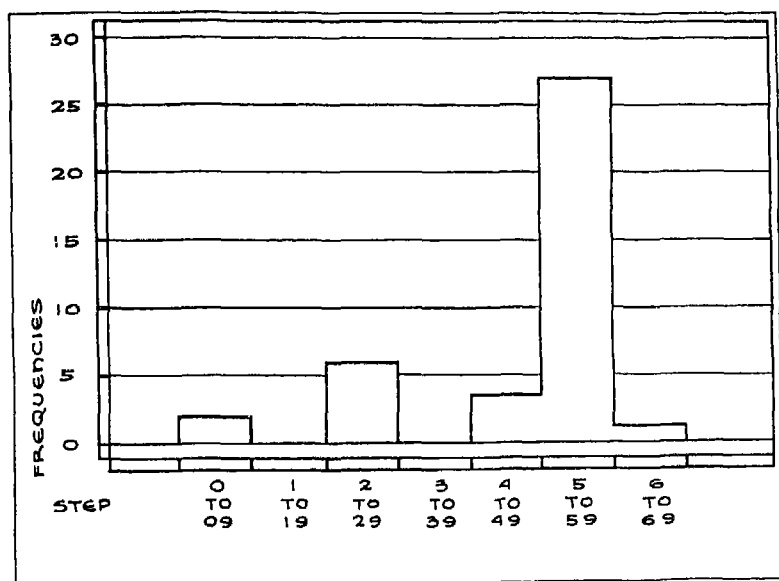
Figure 11 Attitude Toward Social Conformity, Situation III

Situation I is concerned with a formality of social intercourse The spread of scores extends from step 6 to step 7

Situation III relates to behavior in the use of cosmetics The subjects favor conformity but not to the extent they do in Situation II

Attitude Toward Taking Responsibility for an Obligation Voluntarily Assumed

The three situations comprising this scale are similar in that they depict a voluntary assumption of a responsibility by the adolescent and raise the question as to whether the adolescent should be held to his obligation While the obligations are different, the general conditions are similar and the three situations may be combined into one scale

The scores of thirty-nine subjects on the three situations are as follows

Mean	2 9
Standard deviation	1 3

The data are presented graphically in Figure 12

As these data indicate, this group of subjects is rather favorable toward adolescents fulfilling obligations of the type considered here.
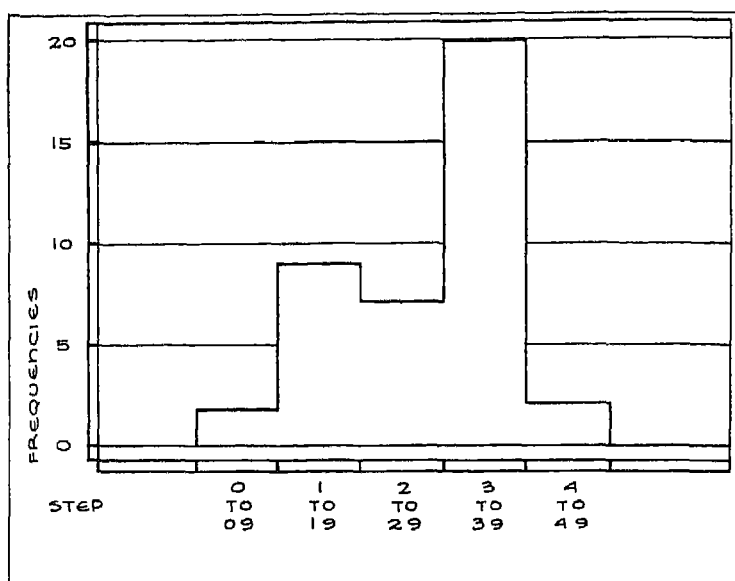
Figure 12 Attitude Toward Responsibility
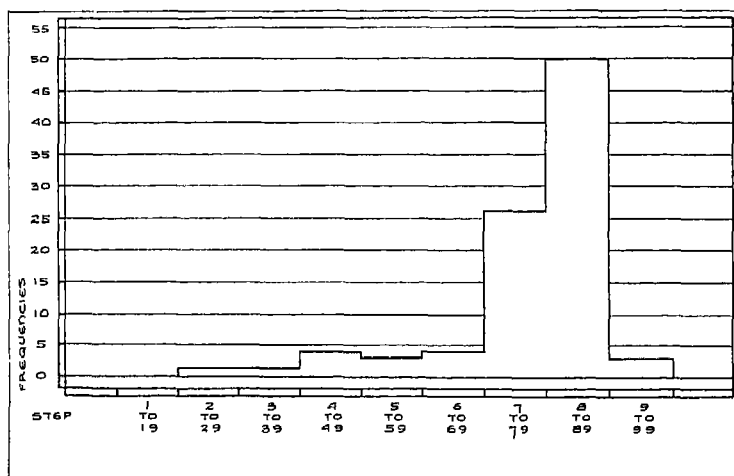
Figure 13 Attitude Toward Smoking by Adolescents

Attitude Toward Self-Reliance

The scores of the thirty-nine subjects on the Ojemann self-reliance attitude scale are shown graphically in Figure 13 The mean is 7 8 with standard deviation of 1 71

Comparison of Attitudes of Untrained and Trained Subjects

One of the questions proposed at the outset of this study related to the differences in attitudes between subjects having an extensive background of training in child development and those relatively untrained in that field The difference between trained and untrained groups has been used by Ojemann to study the needs of the learner The theory underlying the use of the attitudes of trained subjects for this purpose is set forth in the monograph *Researches in Parent Education III* It is, therefore, interesting to compare the attitudes of the parents as reported thus far in this chapter with the scores from a group of subjects highly trained in child development

The time available for this study permitted the gathering of data from highly trained subjects for four of the scales The number of trained subjects, their mean score, the range in scores, and the means and sigmas of the untrained group are presented in the following tabulation

	Subjects				
	Trained			Untrained	
Scale	Number	Range	Mean	Mean	Standard Dev of Scores
		Mixed Swimming			
Situation I	8	1 0 to 3 0	1 5	2 6	2 0
Situation II, III, IV	8	3 7 to 6 6	5 0	6 3	2 4
General statements	8	1 2 to 1 8	1 5	5 3	2 4
		Dancing			
Situation I	9	9 to 2 2	1 1	5 4	2 9
Situation II	9	7 6 to 9 4	8 1	7 7	1 9
Situation III	9	3 2 to 5 0	4 0	6 5	2 3
		Social Conformity			
Situation I	9	3 0 to 6 1	5 1	3 7	1 9
Situation II	9	1 0 to 6 0	3 9	2 3	1 7
Situation III	9	all 5 0	5 0	4 4	1 5
		Responsibility			
	9	1 5 to 3 0	2 0	2 9	1 3

All of the judges held either master's or doctor's degrees in child development and all but three in each group were actually assuming the responsibility for guiding adolescent children Although the number of trained subjects should be increased, the data in the above tabulation reveal several interesting trends The experts in child development are, on the average, more favorable toward mixed swimming parties especially of the type represented in the part of the test consisting of general statements It will be recalled that the type of party considered in that section was one which was not especially chaperoned but which took place without extremes in dress, etc

The experts are considerably more favorable toward dancing except where the activity takes place under such conditions as a public hall of what is usually called "undesirable reputation" (Situation II).

The highly trained subjects are not so concerned about requiring conformity to social customs. In this connection, Situation II presents some interesting data. Although the experts are on the average less favorable to conformity, 3.9 as compared to 2.3, the range of the experts' scores shows that there is considerable disagreement among them. The range extends over five scale steps, which is the widest range reported for any of the scales.

The trained group are somewhat more favorable to expecting the adolescent to take the responsibility for some obligations that he has voluntarily assumed.

SUMMARY AND FINDINGS

The aim of this investigation has been (1) to construct scales designed to measure the attitudes of parents toward seven aspects of adolescent behavior, (2) to measure the attitudes of untrained parents toward these behavior situations, and (3) to compare the attitudes of untrained parents with a small group of specialists in child development.

Scales were constructed to measure attitudes toward the following types of adolescent behavior: petting, dancing, attending mixed swimming parties, conforming to social customs, fulfilling assumed responsibility, and becoming self-reliant. An attempt was made to overcome one of the difficulties experienced with such scales as those of Thurstone which arises from the failure to define adequately the "key-concept." In the Thurstone scale, for example, such concepts as "religion" and "church" appear in the items comprising the scale designed to measure attitude toward the church but no provision is made for the variations in meaning of the concept "church." Churches may vary in type from conservative to liberal. In the scales used in the present study, two types of items were used: simple statements plus a definition of the key-concept and descriptions of reactions to situations, with the latter outlined in some detail.

These items were submitted to a group of judges who were asked to place each on an 11 point continuum varying from extremely favorable to extremely unfavorable. Point 1 on the scale was designated as the favorable end of the continuum and point 11 as the unfavorable extreme.

The mean of the values assigned by the judges was taken as the scale value of the item The interquartile range was used as a measure of Q or ambiguity value Statements with Q values above 3 5 were omitted from the scale in its final form

The scales were administered individually or in small groups by the writer or by someone familiar with the administration of tests

The important findings of this study are

1 It is possible to develop scale items that are essentially reactions to specific situations which have a relatively low Q value

2 The attitude of the subjects varies with the type of situation, hence the method of employing only simple statements does not appear adequate to measure the attitudes of parents toward different aspects of behavior

3 The responses of the parents to the different scales covered a wide range, they may be summed up as follows

a The scale for measuring attitude toward petting exists in two forms Form I is composed of general statements plus a definition of the key-concept Form II consists of a group of closely related situations The mean of a group of 100 parents on Form I is 8 0 and the standard deviation of the scores is 2 3 The respective values for Form II are 7 8 and 1 5

b The eighty-three parents to whom the mixed swimming attitude scale was administered favored carefully planned parties which included responsible adults They were less favorable toward unchaperoned parties and toward unchaperoned parties which included opportunity for considerable lolling around The means of the scores are respectively 2 6, 5 3, and 6 3 The standard deviations of the scores are 2 0, 2 9, and 2 4

c The eighty-nine parents to whom the scale for measuring attitude toward dancing was administered were slightly favorable toward well-chaperoned private dances, (mean 5 4 standard deviation of scores 2 9), slightly unfavorable toward public dances in a good environment (mean 6 5, standard deviation of scores 2 3), and unfavorable toward public dances in places of "questionable" repute (mean 7 7, standard deviation of scores 1 9)

d The thirty-nine parents whose attitudes toward conformity to social customs were investigated favored conformity The means of the three situations were 3 7, 2 3, and 4 4 The corresponding standard deviations were 1 9, 1 7, and 1 5

e These subjects also favored holding adolescents responsible for obligations they had voluntarily assumed The mean and standard deviation were respectively 2 9 and 1 3

f The attitude toward developing self-reliance was rather unfavorable as indicated by a mean score of 7 8 and a standard deviation of 1 7

g A small group of subjects, highly trained in child development, were more favorable than the untrained subjects to well-planned mixed swimming parties and more favorable toward dances taking place in a good environment They were somewhat less favorable to conformity to social customs

REFERENCES

1 Ackerley, Lois A The information and attitudes regarding child development possessed by parents of elementary school children [In] Ojemann, Ralph H, Ackerley, Lois A, Butler, Evelyn I, and others Researches in Parent Education III Univ Iowa Stud, Stud in Child Welfare, 1934, 10, Pp 391 (p 115-167)

2 Butler, Evelyn I A study of the needs of high school students and the effectiveness of a program of learning in selected phases of child development and family relationships [In] Ojemann, Ralph H, Ackerley, Lois A, Butler, Evelyn I, and others Researches in Parent Education III Univ Iowa Stud, Stud in Child Welfare, 1934, 10, Pp 391 (p 171-248)

3 Coast, Louise C A study of the knowledge and attitudes of parents of preschool children State University of Iowa [In] Ojemann, Ralph H, Brandon, Vera H, Grant, Eva I, and others Researches in Parent Education IV Univ Iowa Stud, Stud in Child Welfare, 1939, XVII, Pp 159-181

4 Hedrick, Blanche E The effectiveness of a program of learning designed to change parental attitudes toward self-reliance [In] Ojemann, Ralph H, Ackerley, Lois A, Butler, Evelyn I, and others Researches in Parent Education III Univ Iowa Stud, Stud in Child Welfare, 1934, 10, Pp 391 (p 251-268)

5 Ojemann, Ralph H The measurement of attitude toward self-reliance [In] Ojemann, Ralph H, Ackerley, Lois A, Butler, Evelyn I, and others Researches in Parent Education III Univ Iowa Stud, Stud in Child Welfare, 1934, 10, Pp 391 (p 104-111)

6 Phillips, David P Techniques for measuring the results of parent education Eating and sleeping [In] Ojemann, Ralph H, Roberts, Mary P, Phillips, David P, and others Researches in Parent Education II Univ Iowa Stud, Stud in Child Welfare, 1934, 8, Pp 335 (p 101-132)

7 Roberts, Mary P A study of children's play in the home environment [In] Ojemann, Ralph H, Roberts, Mary P, Phillips, David P, and others Researches in Parent Education II Univ Iowa Stud, Stud in Child Welfare, 1934, 8, Pp 335 (p 35-98)

8 Thurstone, Louis L, and Chave, E J The measurement of attitude Chicago, Ill University of Chicago Press, 1929 Pp 96

PART SEVEN

A STUDY OF THE KNOWLEDGE AND ATTITUDES OF PARENTS OF PRESCHOOL CHILDREN

by

Louise C. Coast

A STUDY OF THE KNOWLEDGE AND ATTITUDES OF PARENTS OF PRESCHOOL CHILDREN

THE PROBLEM

The purpose of this investigation is two-fold (1) to determine to what extent the generalizations involved in intelligent child guidance are functioning in the thinking of parents of preschool children, (2) to compare the attitudes of parents of preschool children with the optimum attitudes for child guidance (the term "optimum" will be defined later)

This study may be considered as contributing to an understanding of what may be called, after careful definition, the needs of parents. Here needs are defined as the difference between what is present and what is desired, the latter being determined by composite judgments of persons who have an extensive background of racial experience and who are engaged in the process of guiding children The deficiencies in knowledge of important generalizations or the deviations in attitude will be referred to as needs

Failure to make adequate determination of the needs of parents has led to uncertainty in the selection of materials for use in child study groups Present programs in the field of parent education represent a wide variation in the assumption as to what is to be included

Various methods for determining the needs of parents have been suggested Tilson (16) studied 225 American-born children ranging in age from one to five years who had been referred to a habit clinic The data concerning these children were analyzed to ascertain the relationship between various behavior problems and such factors as chronological age and mental age of the child and the education, occupation, religion, and nationality of the parents The results were intended to show the needs of parents of preschool children and were to be used as a basis for parent education Tilson did not, however, present a program showing how this information might be used as curricular material in parent education

The results of such studies of children's problems merely reflect the needs of parents instead of constituting the needs themselves Not the

problems but the underlying causes for such problems should form the basis for parent education

The attitudes and practices of parents furnish another possible method for discovering their needs Laws (8) used four objective tests to study the attitudes and practices of parents concerning the social adjustment of children The attitude test used in this investigation recorded a quick emotional reaction to stimulus words dealing with parent-child relationships Laws assumed that such a test would furnish means for determining the content of a parent education course The results of her investigation showed that the test dealing with practices of parents was decidedly limited in its use for parent study groups The chief value was to aid individual parents in analyzing their own problems of adjustment The sampling was not adequate and the tests were not sufficiently diagnostic to serve as a means for analyzing the needs of parents

In an analysis of the fundamental problems involved in curriculum construction, Ojemann (12) considered the nature of the changes produced through learning and the source of knowledge as to desired changes He concluded that such general categories as the "life activities" set forth by Bobbitt (3, p 8-9) or the principles proposed by the Commission on the Reorganization of Secondary Education (7) are too inclusive to serve as satisfactory guides in describing changes produced through living Activities classified under such headings as "citizenship" and "parental activities" emphasize overt characteristics of behavior Bobbitt (3) emphasized abilities, and Charters (6, p 11) activities. This emphasis appears to be satisfactory only with habitual acts essentially the same at each performance, since actions which involve more than a minimum of thinking vary from situation to situation Ojemann (12) used a psychological analysis of learning changes

Ackerley (1) expressed the needs of parents in psychological terms This seems to be a desirable method since parents' practices and problems are symptoms rather than final results A psychological analysis of such symptoms shows that certain attitudes, knowledge, emotional patterns, or skills are not functioning in parental behavior This method also gives some suggestions of the type of learning experiences which tend to bring about the changes desired

The procedure followed for determining the needs of parents of preschool children is similar to the one used by Ackerley (1) and is based on the method developed by Ojemann (12) The method is as follows Changes effected through learning are considered as being psychologi-

cal in nature Overt behavior itself is considered as the result of the interaction of a complex of psychological factors, including knowledge of generalizations which may function in thinking, attitudes, emotional patterns, and skills A determination of desirable outcomes is secured by competent judges

In the realm of knowledge, persons are asked to record their judgment of the importance of a large number of generalizations Tests are then constructed to measure the subject's ability to apply the important generalizations in representative situations In the realm of attitude, attitude scales are submitted to judges who in turn record their attitudes The composite judgment is taken as the optimum attitude This is compared with the attitude of parents and the differences expressed as needs

Ackerley's study (1) is concerned specifically with the generalizations and attitudes which function in the behavior of parents of elementary school children This study is concerned with the knowledge and attitudes which function in the behavior of parents of preschool children It may be considered as one in a series designed to furnish data which may be used in the construction of learning programs in parent education

The generalizations selected for this study relate to the following phases of child development

1 Physical
2 Mental
3 Motor

Importance scores based upon the judgments of twelve persons selected according to criteria described in the Ackerley (1) and Butler (5) studies are available at the Iowa Child Welfare Research Station All generalizations receiving an importance score above 50 on a scale varying from zero to 100 were selected for study

The attitudes tested in this investigation are those towards

1 Corporal punishment as a means of control
2 Thumbsucking
3 Preschool education
4 Praise as a means of control
5 Self-expression

Attitude scales constructed by Brandon (4) were used

The plan of investigation involves the following procedures

1 Constructing knowledge tests from the generalizations receiving high importance ratings by competent judges. Generalizations relating

to the fields of mental growth, physical growth, and motor development for the preschool child were selected

2 Measuring the attitudes and knowledge of parents of preschool children

3 Analyzing the knowledge and attitude test results

CONSTRUCTION OF TESTS

Knowledge tests were constructed for generalizations relating to physical growth, motor development, and intellectual development The complete list of the generalizations, together with the important scores are on file in the Iowa Child Welfare Research Station, and are published in the monograph *Researches in Parent Education III* (10)

Knowledge Tests

The knowledge tests used in this study include the following types

1 Multiple choice
   a With situations
   b Without situations
2 True-false items

Multiple Choice Tests without Situations In the multiple choice tests without situations the items are not accompanied by a description of a specific situation A general problem is proposed and the subject is asked to check one or more possible answers An example of this type is the following

An average child doubles its weight in

a 6 months
b 4 months
c 10 months
d 12 months

Multiple Choice Type with Situations In the investigator's opinion this type is especially well adapted to measuring the extent to which generalizations are functioning in the thinking of parents An interesting situation tends to direct the questioning away from the parent and his child If the situations are well constructed they tend to be somewhat more closely related to the type of condition in which generalizations are used.

The first step in building these tests is to find situations which have a wide interest Selections were made of situations which appear to be within the experience of or closely related to the experience of parents

The situations were stated briefly, specific names being used to add interest

For example, the situation dealing with imagination in the life of the child describes a five-year-old child who has a very vivid imagination Fairies and other persons appear in her conversation and she has difficulty in distinguishing between them She also has many imaginary companions. Her mother encourages her by reading numerous fairy tales to her Other members of the family propose various methods of guiding the child These methods are listed and the subjects are asked to select those methods which they consider as desirable in dealing with the situation Another example is the case of Mrs Jones' eleven-months-old Billy who is able to walk around and can reach up and turn on the jets of the gas stove Several methods are listed which might be used to help solve such a problem The methods are to be rated as good, fair, or poor

True-False Type In the true-false type of item a provision was made for the parent to respond in an "I do not know" column to assist in decreasing the number of chance successes The frequency of responses in this column as revealed in the analysis of the tests indicates that the possibility of chance success was reduced to some extent

In developing the knowledge tests certain generalizations relating to the construction of tests were followed They are

1 Nature of knowledge Knowledge testing consists essentially in setting up one or more situations which are new to the subject and which require the application or adaptation of a generalization or generalizations Generalizations retain the common characteristics of a number of situations or ideas, and hence are the tools of thinking An opportunity to apply the generalization relating to the influence of heredity as it is ordinarily defined upon physical development is offered in the following situation in which the subject is asked to pick out from a number of characteristics those which may be inherited

Check the following traits or characteristics that may be inherited

a color of eyes
b good ear for music
c stealing
d curly hair
e color blindness
f fear of strangers
g tuberculosis
h feeblemindedness
i telling lies
j quality of nervous system
k number of bones in the body
l honesty

2 Reliability of measuring devices In order to be valid a test must be reliable Reliability of tests may be improved by improving

individual items and by using more items Several statistical measures are available for determining test reliability These include repetition of the test after an interval of time, the correlation of chance halves of the test, and the correlation of scores from two different forms of the test

3 Validity of measuring devices An efficient measuring device must be a valid measure That is, the device must measure what it purports to measure Factors which contribute to invalidity in a measuring device are insufficient sampling of material or the inclusion of material which is insignificant or unessential. Invalidity may also arise when the tests are constructed in such a manner that decisions may be made on the basis of grammatical consistency or synonomous phrasing between the description of the situation or the body of the test and the detailed items

In the present study only generalizations receiving a high importance score were included An effort was also made to free the test from spurious leads such as the synonomous phrasing mentioned above Furthermore, the items were checked by eight judges to remove difficulties in interpretation arising from such factors as ambiguity in meaning

4 Objectivity of measuring devices Objectivity refers to the degree to which the same performance is rated alike by different individuals A definite scoring key was prepared for all the items in the knowledge test, thus securing uniformity in scoring

Attitude Tests

The attitude tests used in this study were constructed by Brandon (4) Her method adopts the common psychological principle that equally often noticed differences are psychologically equal The scale values of the individual test items are determined by the judgments of a large group of persons Brandon attempted, however, to overcome two difficulties frequently met with in measuring attitudes The first of these is the definition of the key-concept Investigators such as Thurstone (15) use the simple statement form and allow the subject taking the test to give any meaning to the key-concept that he chooses. Brandon, however, defines the key-concept For example, in the scale measuring attitude toward preschool education the following description appears at the top of the scale "Preschool education as used in this scale has reference to training received in preschools or nursery schools which have recognized educational programs for children be-

tween the ages of eighteen months and five years" Brandon also attempted to overcome the difficulties caused by mere verbalization by introducing items other than simple statements The test measuring attitude toward self-expression, for example, includes the description of a rather definite situation and several attitudes that may be expressed toward it

The attitudes of parents toward corporal punishment as a means of control, toward eliminating the habit of thumbsucking, toward preschool education, toward praise as a means of control, and toward self-expression in children were tested An analysis of the attitudes of parents of preschool children toward the development of self-reliance had already been made by Ojemann (11)

The Q values and the scale values of the tests used in this study are reported by Brandon (p 27)

PERSONNEL OF SUBJECTS AND ADMINISTRATION OF TESTS

Personnel of Subjects

A total of 166 parents of preschool children were used as subjects in this investigation This group included 124 mothers and 42 fathers The subjects were obtained from cities in Iowa (Iowa City, Sioux City, Spencer, and Fort Dodge), and from Sioux Falls, South Dakota If parents were obtained from study groups, the data were obtained before the beginning of the study program Most of the subjects were obtained, however, not through study groups, but through direct contact by the investigator

Education The subjects were classified according to the grade finished in formal school The tabulation is as follows

Education	Subjects	Percentage
Grade 8 or below	5	3 0
High school		
Year 1	3	1 8
Year 2	9	5 4
Year 3	6	3 2
Year 4	24	14 5
College		
Year 1	11	6 9
Year 2	16	9 6
Year 3	15	9 0
Year 4	40	24 1
Year 5 or more	37	22 3

From the above tabulation it will be seen that between one-fourth and one-fifth of the group had a partial or complete high school educa-

tion, and approximately the same number had extended their education beyond four years of college As measured by their formal school education, the group represents the upper levels rather than the lower levels.

Size of Family The number of children in the family represented a range from one to seven The tabulations are as follows

1	52	31 3
2	62	37 3
3	29	17 4
4	12	7 8
5	5	3 0
6	5	3 0
7	1	0 6

Age of Children All of the families had at least one child of preschool age

Administration of Tests

The contact of the parents was made through a brief interview by the investigator In a few cases the subjects were approached by one of the field workers in parent education The nature of the tests was briefly explained, and when the co-operation of the parent had been obtained the method of taking the tests was briefly explained to insure an understanding of the directions by the subject The tests were then filled out by the subjects

RESULTS

Test responses were secured from 166 subjects The knowledge tests were scored according to the key established by the responses of a group of eight judges If the subject's response agreed with that of the judges it was marked +, if it disagreed it was marked 0 An analysis of the responses of the parents was made item by item This method was selected in order to show the extent to which specific generalizations are functioning in the thinking of the subjects

The scale values of the statements endorsed by the parents on the attitude tests were averaged for each subject A frequency distribution for the individual scores was tabulated The mean and distribution of the responses of the subjects were then compared with the responses of the judges

An analysis of parental attitudes will be presented first, this will be followed by an analysis of responses on the knowledge tests.

Analysis of Responses on Attitude Tests

In all of the attitude tests Step 1 represents the favorable side of the scale, and Step 11 the unfavorable side

The data on corporal punishment are represented in the following tabulation and graphically in Figure 1

	Score
Parents' median	4 37
Judges' median	8 00
Parents' mean	3 02
Distribution	1 01
Mean	083

The median score of the parents toward corporal punishment is 4 37 The range extends over almost the entire scale The comparison of the median of the judges with the median of the subjects in this investigation is interesting The difference is almost four scale steps in the direction of the side favorable to corporal punishment as a means of control Parents are far more favorable to corporal punishment than persons having an extended background in child development

The data on the attitude toward preschool education are represented
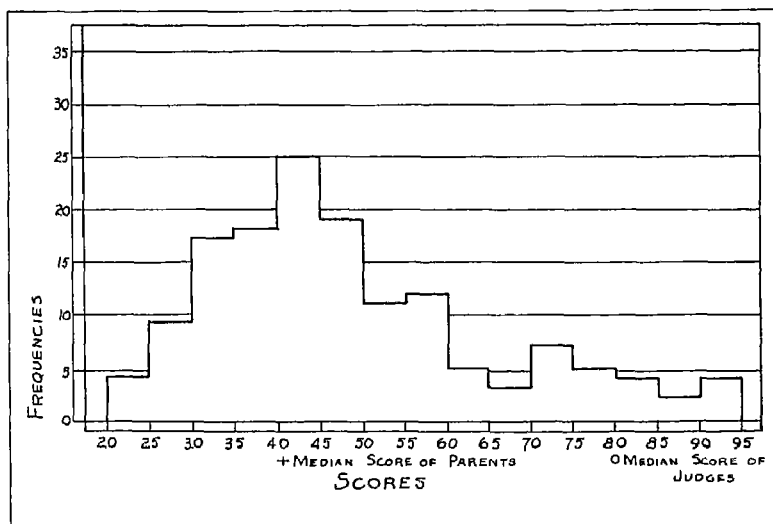
Figure I Parents' Attitude Toward Corporal Punishment as a Means of Control
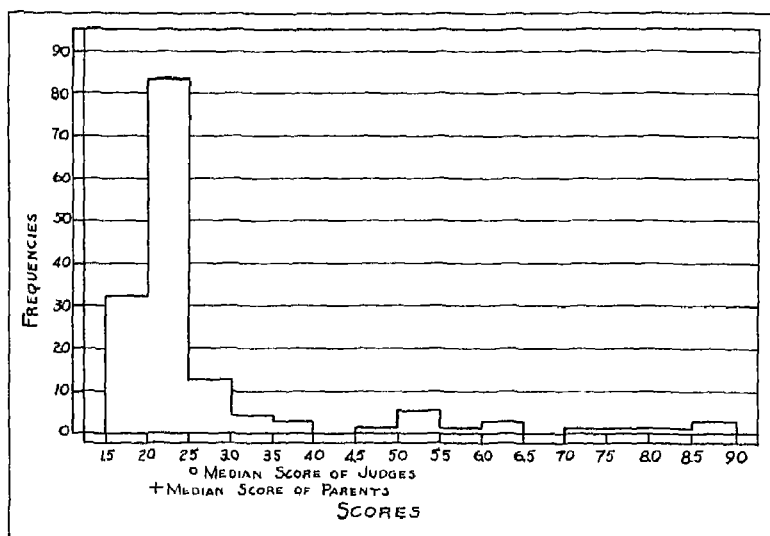
Figure 2 Parents' Attitude Toward Preschool Education
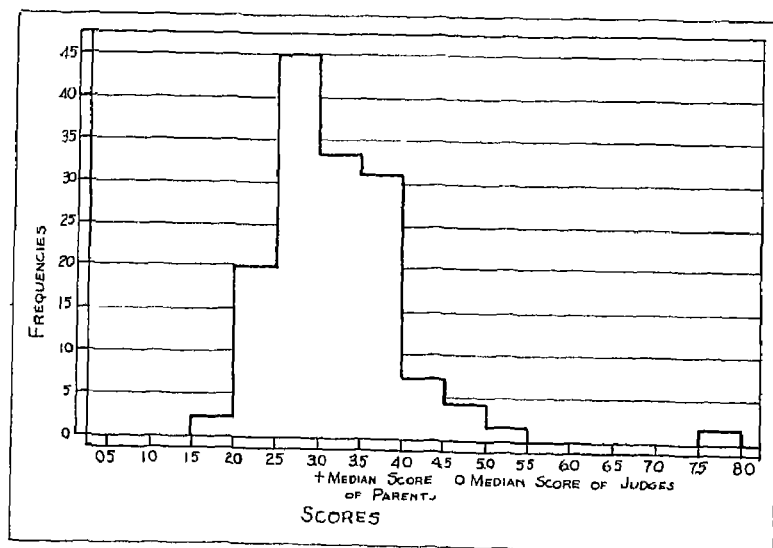
Figure 3 Parents' Attitude Toward Praise as a Means of Control

below and graphically in Figure 2 This distribution is very consider-

	Score
Parents' median	2 25
Judges' median	2 55
Parents' mean	2 62
Distribution	1 35
Mean	112

ably skewed toward the favorable end of the scale A few of the group fall on the unfavorable side, but the vast majority are on the other side There is practically no difference between the median of the subjects used in this investigation and that of the judges

The following tabulation presents the data on the attitude toward praise as a means of control Figure 3 presents this material graphically

	Score
Parents' median	3 08
Judges' median	4 80
Parents' mean	3 11
Distribution	84
Mean	07

On the average the subjects are more favorable to the use of praise than are the judges The difference in the medians is 1.7 scale steps The vast majority of the group of subjects fall outside the scale interval in which the judges' median falls

The difference between the medians in the attitude toward self-expression is one scale step The parents are on the average more favor-

	Score
Parents' median	4 06
Judges' median	3 08
Parents' mean	4 28
Distribution	1 01
Mean	08

able toward self-expression than are the judges Individual scores, however, covered a wide range on the scale These data are presented graphically in Figure 4

The opinion of the parents toward eliminating the habit of thumbsucking was more toward the favorable end of the scale than was that of the judges

	Score
Parents' median	2 42
Judges' median	3 66
Parents' mean	3 02
Distribution	1 04
Mean	08

The difference in the medians is 1 2 scale steps This suggests that parents are somewhat more concerned in eliminating the habit of thumbsucking than are the judges These data are presented graphically in Figure 5.
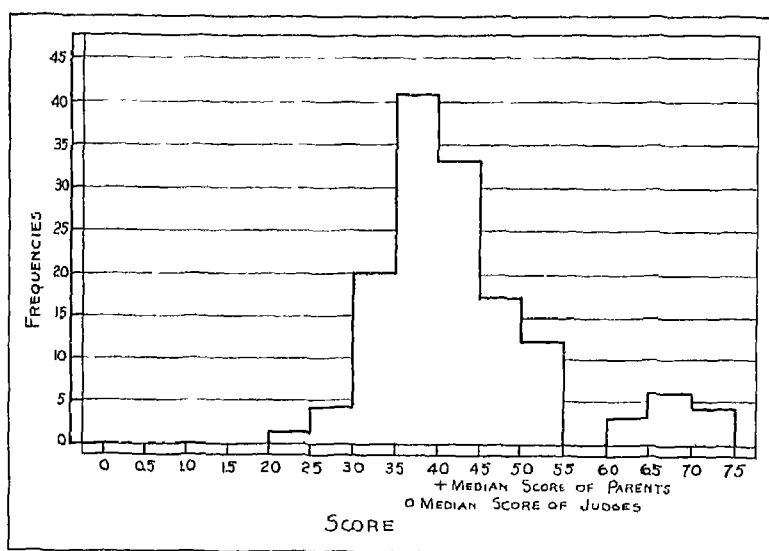
Figure 4 Parents' Attitude Toward Self-Expression
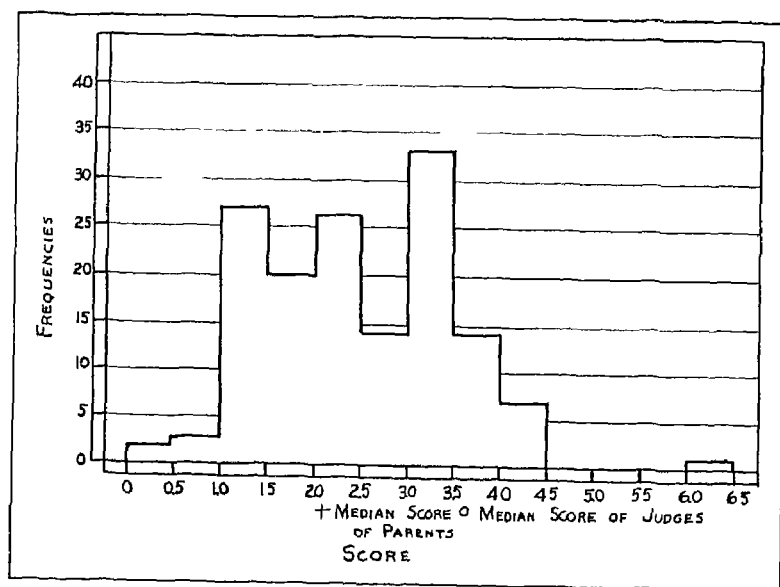
Figure 5 Parents' Attitude Toward Eliminating the Habit of Thumbsucking

CRITERIA FOR GOOD MEASURING DEVICES

The responses of the subjects on the knowledge tests will be used first to give some indication as to how well these tests fulfill the important criteria of good measuring devices. The criteria discussed are validity, reliability, objectivity, and ease of administration of scoring.

Validity. How valid are the knowledge tests as a measure of parents' knowledge of significant generalizations relating to child development? Since the items were based on generalizations rated as highly important for the intelligent guidance of children by a group of judges, insignificant and unessential generalizations were excluded. The use of expert judgment is assumed in this study to contribute to validation since validity depends on the inclusion of significant and essential generalizations.

Another method of validation is the comparison of the percentages of approved responses at different levels of ability. This method may be applied in this study by comparing the parents' responses to the approved responses. The scoring key itself represents the consensus of the responses of a highly trained group.

The validity of the attitude tests has been assumed in this study. Investigations and discussions of the question are found in a paper by Ojemann (11) and by Ackerley (1).

The following factors which tend to favor the validity of the knowledge tests may be summarized: the method used for selecting the generalizations, the agreement of the subjects to the approved responses of each item, and the attempt to eliminate factors which relate to unreliability in testing.

Reliability. The next criterion to be considered is that of reliability. The reliability coefficient was determined by correlating chance halves of the test and applying the Spearman-Brown formula. This correlation, based on the data from 166 subjects, is .61. This correlation is considerably lower than that obtained in other similar studies, such as those of Ackerley (1) and Butler (5), and indicates that the knowledge test should be improved.

Other Criteria. The key of approved responses which was obtained by consensus of judgments eliminated as far as possible subjective

factors in scoring the tests The tests can be easily administered since they require only checking and no further writing

Analysis of Responses on Knowledge Tests

The average number of parents giving the approved responses to the true-false items which constitute Part I of the knowledge test is 77 5 per cent The average number of parents giving the approved response on each question of Part II of the knowledge test, which consists of the multiple choice type of items, was 71 5 per cent

An analysis of the responses of the subjects to various groups of items is given in the following paragraphs.

Physical Development The first twelve items in Part I of the knowledge test relate to physical development The percentage of correct responses on each item is as folows

Item	Percentage
1	88 0
2	88 6
3	84 9
4	86 1
5	84 9
6	62 0
7	73 5
8	30 1
9	88 6
10	92 8
11	69 9
12	86 1

It is interesting to note that only 86 per cent of the subjects gave the approved response to the fourth item relating to prenatal influences From 85 to 88 per cent of the subjects have the approved responses to the first three items relating to the influence of hereditary factors Item 2, for example, reads "If your husband is a doctor your son is certain to be a better doctor than any other type of professional or business man " Three-fourths of the parents recognized that a nine-month-old baby requires more space than a small pen to move around in, in order to stimulate his development

Some indication of the failure of parents to recognize individual variations and variations from day to day in the requirements of children, such as sleep, for optimum physical development is shown by response to item 8 Seventy per cent of the parents approved the practice of requiring all children to stay in bed a given number of hours each night even though they do not sleep

Exercise is important in the development of muscle and motor control The child needs space in which to move around and adequate equipment for the development of his muscles and motor control The following tabulation shows, as measured by the tests, that only 73 5 per cent of the parents recognized the necessity of space for the child, and 82 4 per cent of the parents recognized the type of equipment which would further muscular development

Item	Percentage
Part I	
7	73 5
Part II	
2a	57 8
2b	83 7
2c	72 3
2d	78 9
2e	79 5
2f	63 8
2g	67 5
6a	65 7
6b	60 8
6c	97 6
6d	87 3
6e	90 4
6f	84 9
6g	97 0
7a	59 6
7b	53 7
7c	47 0
7d	69 9
7e	55 4
7f	38 6

The prediction of hereditary traits is uncertain as any number of combinations may be made from the two sets of genes A few physical traits, such as color of hair and eyes, tend to follow the general laws of inheritance. The object in asking parents a question on heredity was to see if they could distinguish between traits or characteristics which tend to follow the general rule of inheritance and such characteristics as stealing, honesty, fear of strangers, and telling lies Only 73 7 per cent of the parents realized that such characteristics were not inherited The following tabulation shows the percentage of parents marking the items correctly

Item	Percentage
Part II	
1a	83 1
1b	60 2
1c	89 2
1d	79 5
1e	36 1

1f	88 0
1g	69 3
1h	77 1
1i	89 2
1j	65 7
1k	53 0
1l	91 0

In the generalization pertaining to the physical development of the newborn child, its average size, weight, and development of certain parts of the body, only 89 7 per cent of the mothers and fathers knew that an average baby doubles its weight in the first six months The parents' responses were from four to twelve months

Item	Percentage
Part II	
4a	70 5
4b	95 2
4c	96 4
4d	97 0

In the generalization pertaining to height-weight-age of the average child, the parents were to realize the importance of interpreting the height-weight-age tables Eighty-three per cent of the parents realized that the figures did not necessarily mean that all children at a certain age should weigh the exact number of pounds given but may deviate from that amount

Item	Percentage
Part II	
5a	98 2
5b	82 5

Teeth are a special bone development and need the same minerals and vitamins as do other bones for proper development When teeth start to erupt, something hard to bite on, such as zwieback or dry toast, may be given The subjects were also asked to check the items that were most helpful in aiding the growth and formation of the teeth The following tabulation gives the percentage of correct responses for item 9

Item	Percentage
Part II	
9a	77 7
9b	80 1
9c	89 2
9d	98 8
9e	74 1
9f	73 5
9g	59 0
9h	100 0
9i	75 3
9j	65 7

In question ten, 45 per cent of the parents wanted to give the child a celluloid bracelet to relieve the pain in cutting teeth Celluloid bracelets may come apart and may break The average number of correct responses to this item was 76 9 per cent. Following is the tabulation for this question

Item	Percentage
Part II	
10a	84 3
10b	98 2
10c	74 1
10d	55 4
10e	72 9

It is interesting to note with what success the parents checked the items in sex education The questions were answered with a certain degree of success by all parents, with the exception of item 4 The parents did not agree with the judges as to the terms relating to parts and functions of the body that a school-age child should have in his vocabulary The average number of correct responses to the other items was 89 5 per cent

The following tabulation shows the correct responses of the parents to questions related to sex education

Item	Percentage
Part I	
11	69 9
Part II	
12a	77 7
12b	97 0
12c	86 1
12d	100 0
12e	91 6
13a	91 6
13b	68 7
13c	98 2
13d	89 2
13e	91 6
14a	98 2
14b	99 4
14c	88 6
14d	82 5
15a	57 2
15b	39 8
15c	59 0
15d	62 0
15e	63 8
15f	48 2
15g	42.8

Mental Development The items 13 to 20 on Part I of the knowledge test relate to mental development The percentages of correct responses are given below

Item	Percentage
13	95 2
14	68 7
15	78 3
16	82 2
17	86 1
18	84 9
19	69 9

At birth the normal infant is capable of performing many movements, and perfecting movements This capacity for learning makes possible complex development The following tabulation shows the correct responses on the items in this test

Item	Percentage
Part II	
34a	54 8
34b	38 6
34c	74 7
34d	46 4
34e	100 0
34f	90 4
34g	93 4
34h	96 4

In test item 17, Part II, 73 5 per cent of the parents recognized the fact that infants learned from birth. Other answers varied from one to twelve months of age.

In test item 18, Part II, only 68 9 per cent of the parents thought that infants six months of age responded to differences in tones, light, and facial expression

The generalization on intelligence tests included the precaution in giving intelligence examinations that results be accepted only from trained examiners, and that the interpretation of results be made carefully Only 78 3 per cent of the parents recognized the fact that results of an intelligence examination should be accepted from trained examiners only The percentage of correct responses is as follows

Item	Percentage
Part II	
22a	83 1
22b	56 6
22c	57 8
22d	71 7
22e	19 9

The next question, number 23, concerns the situation of a child who appears very dull in school, but appears well physically Only 59

per cent of the parents advised having his IQ taken Other responses were as follows:

Item	Percentage
	Part II
23a	88 0
23b	86 7
23c	84 3
23d	59 0
23e	99 4
23f	96 4

An analysis of the responses to test item 24 reveals a failure on the part of some parents to interpret intelligence test results The following tabulation shows that only 21 1 per cent of the parents answered this item in the same way as the judges

Item	Percentage
	Part II
24a	54 8
24b	80 7
24c	98 8
24d	95 8
24e	21 1
24f	96 4

There is some indication of failure on the part of parents to understand the possibilities of development in a four-year-old child Only 23 5 per cent of the parents marked item 25b, "find opportunities to play with children" Only 71 1 per cent of the parents checked item 25d, "play creatively alone as well as with other children"

Item	Percentage
	Part II
25a	84 9
25b	23 5
25c	86 7
25d	71 1

Intelligence is one factor in social and emotional development Under ordinary conditions children may be guided in their development by parents and teachers Parents did not agree with the judges as to what extent a three-year-old child could be guided in his social and emotional development The following tabulation shows the distribution of correct responses

Item	Percentage
	Part II
26a	63 8
26b	59 6
26c	92 2
26d	60 2
26e	92 2
26f	91 6
26g	85 5
26h	53 0

Attention is a fundamental factor in intellectual development. It may vary in type and intensity. Suggestions were given to the parents for securing the child's attention. Only 69.3 per cent of the parents agreed that to secure the attention of a child the number of possible distracting objects should be limited. Only 63.8 per cent of the parents checked the item stating that the child must understand what is wanted of him, or what is being said to him.

Item	Percentage
Part I	
19	83.6
Part II	
27a	98.2
27b	87.7
27c	69.3
27d	99.4
27e	63.8
27f	94.0

The imagination of children may be so directed that it becomes influential in directing activity without over-shadowing reality. There were 81.5 per cent of the parents marking items on this question correctly.

Item	Percentage
Part II	
28a	97.6
28b	100.0
28c	97.6
28d	81.3
28e	31.9
28f	80.7

There were 79.6 per cent of the parents responding correctly to various procedures which were proposed for a situation concerned with a six-year-old child who was always asking questions.

Item	Percentage
Part II	
32a	99.4
32b	84.9
32c	48.8
32d	89.8
32e	99.4
32f	38.6
32g	71.1

Motor Development. Items 20 through 25 on Part I of the knowledge test relate to motor development. The percentage of correct responses are tabulated below.

Item	Percentage
20	88 6
21	87 3
22	88 0
23	27 7
24	51 2
25	86 1

It is interesting to note that only 72 per cent of the parents made approved responses to items in this section The following analysis shows with what degree of success the items were marked correctly

A newborn baby is able to execute a variety of movements, such as turning the head, moving his arms and legs, clinging to a rod, and others They foreshadow his developing motor control An analysis of the following tabulation suggests a failure on the part of parents to recognize movements which a newborn baby is capable of making

Item	Percentage
Part II	
34a	54 8
34b	38 6
34c	74 7
34d	46 4
34e	100 0
34f	90 4
34g	93 4
34h	96 4

Handedness may be established by the end of the first year, although great individual variability exists in this respect The parents were given a situation relating to handedness of an eighteen-month-old child An analysis of the responses suggests in this situation that parents have a tendency to be persistent in their efforts to make a child use his right hand even though the tendency to use the left hand is stronger The responses to the given situation were to be marked as good, fair, or poor procedures for the mother to follow

Item	Percentage
Part II	
35a	61 4
35b	74 7
35c	77 1
35d	68 7

Parents did not agree with the judges as to good, fair, and poor procedures to be followed in the home which might encourage children to write

Item	Percentage
Part II	
31a	60 2
31b	70 5
31c	64 4
31d	66 3
31e	81 9

SUMMARY

The aim of this investigation has been to determine to what extent the generalizations involved in intelligent child guidance are functioning in the thinking of parents of preschool children, to compare the attitudes of parents of preschool children with the optimum attitudes for child guidance, and to determine the effectiveness of a specially prepared learning program in developing an understanding of the generalizations in the field of mental growth of the preschool child.

This study is concerned particularly with generalizations which should be functioning in the thinking of parents of preschool children, and their growth in attitudes. For studying knowledge of generalizations, test items, largely of the multiple choice type, were constructed from generalizations rated as important by competent judges in the field of child development. The test items were submitted to a highly trained group of eight judges, and from these responses the scoring key was developed.

Attitude tests constructed by Brandon (4) were used to ascertain what attitudes toward corporal punishment, preschool education, eliminating the habit of thumbsucking, praise as a means of control, and self-expression were functioning in the thinking of parents of preschool children.

These tests were administered to 166 parents of preschool children and the results analyzed item by item.

An analysis of the data reveals the following:

1. The mean per cent of approved responses on the knowledge test, Part I, was 77.5, on Part II, 76.5. Individual responses on the test covered a wide range, extending from 19 per cent to 100 per cent of the approved responses.

2. The responses of the parents on the attitude tests covered a comparatively wide range. The parents' medians were compared with the judges' medians. The greatest difference was found between the parents' attitude and the judges' attitude toward corporal punishment as a means of control. The parents' median was approximately four scale steps beyond the judges' median and in the direction of the favorable end of the scale. This suggests that parents are still rather favorable toward the use of corporal punishment. The parents' median and the judges' median agreed within .3 of a scale point in their attitudes toward preschool education. Parents were slightly more favorable than the judges in the attitude tests toward praise as a means of control and toward self-expression. The parents were more in favor of eliminating the habit of thumbsucking in children than were the judges.

3. An analysis of the data indicated that a significant number of parents did not recognize the implications of the generalizations as applied in the tests

REFERENCES

1 Ackerley, Lois Alberta The information and attitudes regarding child development possessed by parents of elementary school children [In] Ojemann, Ralph H, Ackerley, Lois A, Butler, Evelyn I, and Hedrick, Blanche E Researches in Parent Education III Univ Iowa Stud, Stud in Child Welfare, 1935, 10, Pp 391 (p 113-167, 357-380)

2 Ackerley, Lois A, Ojemann, Ralph H, Neil, Berniece, and Grant, Eva A study of the transferable elements in interviews J Exper Educ, 1936, 5, 137-174

3 Bobbitt, Franklin How to make a curriculum Boston Houghton Mifflin, [c 1924] Pp 292

4 Brandon, Vera Attitude tests [In] Ojemann, Ralph H, Brandon, Vera H, Grant, Eva I, and others Researches in Parent Education IV Univ Iowa Stud, Stud in Child Welfare, 1939, XVII, Pp 181 (p 20-60)

5 Butler, Evelyn I A study of the needs of high school students and the effectiveness of a program of learning in selected phases of child development and family relationships [In] Ojemann, Ralph H, Ackerley, Lois A, Butler, Evelyn I, and Hedrick, Blanche E Researches in Parent Education III Univ Iowa Stud, Stud in Child Welfare, 1935, 10, Pp 391 (p 169-248, 381-391)

6 Charters, W W Curriculum construction New York Macmillan, 1924 Pp xii, 352

7 [Commission on the Reorganization of Secondary Education] Cardinal principles of secondary education A report of the commission on the reorganization of secondary education appointed by the National Education Association, Washington, D C Gov't Printing Office, Bureau of Education Bull, 1918 (1928 printing), No 35, Pp vii, 27

8 Laws, Gertrude Parent-child relationships A study of the attitudes and practices of parents concerning social adjustment of children Teach Coll, Columbia Univ, Cont to Educ, 1927, No 283, Pp 57

9 [Ojemann, Ralph H Appendix I Test and material on reading difficulty [In] Ojemann, Ralph H, Roberts, Mary Price, Phillips, David P, and others Researches in Parent Education II Univ Iowa Stud, Stud in Child Welfare, 1934, 8, Pp 335 (p 251-272)

10 Ojemann, Ralph H, Ackerley, Lois A, Butler, Evelyn I, and Hedrick, Blanche E Researches in Parent Education III Univ Iowa Stud, Stud in Child Welfare, 1935, 10, Pp 391

11 Ojemann, Ralph H The measurement of attitude toward self reliance [In] Ojemann, Ralph H, Ackerley Lois A, Butler, Evelyn I, and Hedrick Blanche E Researches in Parent Education III Univ Iowa Stud, Stud in Child Welfare, 1935, 10, Pp 391 (p 101-111)

12 Ojemann, Ralph H The construction of a curriculum in parent education I The nature and source of objectives II Special problems relating to generalizations University of Iowa, Unpublished Study

13 Ruch, G M The improvement of the written examination Chicago, Ill Scott, Foresman, [c 1924] Pp x, 193

14 Thorndike, Edward L The teachers word book 2nd ed New York Teachers College, Columbia University, 1921 Pp vi, 134

15 Thurstone, L L, and Chave, E J The measurement of attitude A psychophysical method and some experiments with a scale for measuring attitude toward the church Chicago, Ill University of Chicago Press, 1929 Pp xii, 97

16 Tilson, Marie Agnes Problems of preschool children A basis for parental education Teach Coll, Columbia Univ, Cont to Educ, 1929, No 356, Pp ix, 90.